# संत रविदास

इन्द्रराज सिंह

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

भाद्रपद 1908 सितम्बर 1986

©प्रकाशन विभाग

मूल्य : 13.50

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित ।

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

● सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
● कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
● 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069
● एल० एल० आडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास-600002
● बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
● निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001
● 10-बी०, स्टेशन रोड, लखनऊ-226019
● स्टेट आर्किलॉजिकल म्यूजियम बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन, हैदराबाद-500004

भारत सरकार मुद्रणालय, शिमला द्वारा मुद्रित ।

# सोहम्

कृष्ण-करीम, राम-हरि-राघव जब लग एक न पेखा,
वेद-कतेब कुरान-पुरानन सहज एक नहि वेषा ।
जोइ-जोइ पूजिए, सोइ-सोइ कांची सहज भाव सत होई,
कह रैदास मैं ताहि को पूजूं जाके ठांव-नांव नहिं कोई ।

—संत रविदास

# संत-परम्परा

सामान्य तथा तथाकथित निम्न परिवार में जन्मे एवं कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए एक महान सन्त ने किस प्रकार जीवन की सार्थकता प्राप्त की, सामाजिक मूल्यों की विवेचना का विषय है। इस पुस्तक में एक ओर गुरु रविदास के जीवन की प्रारम्भिक कार्य प्रवृत्तियों से लेकर, साधना की चरम सीमा तक पहुंचने का गहन अध्ययन है, तो दूसरी ओर वेदों से लेकर संत-परम्परा तक का चित्रण। भक्ति-आन्दोलन के दौरान वैचारिक प्रगति और सामाजिक व्यवस्था में आन्तरिक परिवर्तन का विस्तृत विवरण है। जाति, क्षेत्र तथा स्थानीय सांस्कृतिक विभिन्नता के होते हुए भी भारत एक मूल सांस्कृतिक चरित्र और इतिहास से जुड़ा हुआ है, जिसका कारण है—भारतीय संस्कृति में धार्मिक और दार्शनिक विचारों की उदारता। फलतः संस्कृति ने कितने ही आक्रमणकारी बाह्य कबीलों को सहज ही में आत्मसात कर लिया, किन्तु भारत में जातीयता की सामाजिक बेड़ियां इतनी कठोर रहीं हैं कि वे एक प्रकार से शोषण का माध्यम बन गईं। भक्ति-आन्दोलन ने इन सामाजिक जंजीरों की कठोरता को ढीला किया था। कबीर, रविदास आदि मध्यकालीन संतों ने समाज को नई दिशा और चेतना प्रदान की।

संतों के लिए मानव प्रेम ही ईश्वर प्रेम था, क्योंकि वह परमात्मा, जो उन्हें मिल गया था, उन्हें हर मानव के अन्दर दिखाई देता था। यह सन्त-युग अहिंसात्मक आध्यात्मिक आन्दोलन था।

इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने महान संत रविदास की जीवन-यात्रा का प्रामाणिक ब्यौरा दिया है और सामाजिक भेदभाव, जाति-पांति, ऊंच-नीच, छुआछूत आदि सामाजिक व्याधियों का विश्लेषण भी किया है।

हिन्दी जगत में इस कृति का स्वागत होगा इस आशा के साथ।

**डॉ० श्याम सिंह शशि**

**निदेशक**

# दो शब्द

पुरातन संस्कृति और आध्यात्मिक केन्द्र होने के कारण समय-समय पर इस देश में अनेक ऋषि-मुनि, संत-कवि आदि मनीषी अवतरित होते रहे हैं, जिन्होंने तत्कालीन समाज को सच्चे मार्ग पर चलने और मिलजुल कर जीवन यापन करने का उपदेश दिया। संकुचित प्रान्तीयता, क्षेत्रीयता आदि अन्य प्रकार के दायरों से बाहर निकल कर प्रेम, अहिंसा और मातृत्व की भावना के साथ जीवन यापन की प्रेरणा, ऐसी विभूतियों ने सदैव दी है। इन लोगों को महामानव भी कहा जाये, तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। सन्त-कवि रविदास भी एक ऐसी ही महान आत्मा थे, जिन्होंने तत्कालीन समाज को एक अच्छा जीवन जीने का मार्ग सुझाया। आज भी उनका सन्देश अमर और प्रेरणादायक है।

प्रकाशन विभाग द्वारा कबीर, सूर, तुलसी, नामदेव, नानक, प्रभृति कवि-सन्तों पर समय-समय पर पुस्तकें निकाली गई हैं, जिनके कई संस्करण भी छपे हैं और हमारे पाठकों ने इन प्रकाशनों को सराहा है। इसी दिशा में सन्त रविदास पर यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। हमें विश्वास है कि सदा की भांति हमारे पाठकों को यह ग्रन्थ भी पसन्द आयेगा।

—सम्पादक

# प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में मध्यकाल का अपना विशिष्ट स्थान है। जब समाज सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों से त्रस्त था और निराशा और दीनता की भावना से ग्रस्त था, ऐसे समय में अनेक विचारक, भक्त और संत हुए, जिन्होंने सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों को दूर करके, भेदभाव और ऊंच-नीच की भावना को समाप्त करके समाज की दशा सुधारने तथा व्यक्ति में भक्ति-भावना संचारित करके आशा-विश्वास और आस्था जगाने और अपनी रसमयी, उद्बोधक और प्रेरक वाणी से जन-जन में प्रेम, भाईचारे और कल्याण-भावना जाग्रत करके महत्वपूर्ण कार्य किया।

ऐसे मध्यकालीन भक्तों और संतों में तुकाराम, नरसी मेहता, गुरु नानक, कबीर, सूर, तुलसी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐसे ही एक महान संत और कवि हुए हैं रविदास या रैदास। सुविधावंचित और उपेक्षित वर्ग में जन्में संत रविदास ने "मन चंगा तो कठौती में गंगा" का उद्घोष देकर आंतरिक पवित्रता, निश्छलता और निर्मलता का मर्मस्पर्शी मंत्र देकर, दीन-दलितों को उभारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने आत्मानुभूत सत्य का प्रतिपादन किया, भक्ति भावना जाग्रत की, परन्तु उनकी वाणी सदैव ही करुणा और स्नेह की भावना से सिक्त रही। उन्होंने कठिन और ऊंचे दार्शनिक सिद्धांतों को सीधी-सादी, सरल और प्रतिदिन की शब्दावली में, जनता की भाषा में समझाया और इस प्रकार आत्म-कल्याण और भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। इसके साथ ही उन्होंने सामाजिक भेदभाव और ऊंच-नीच को समाप्त कर परस्पर प्रेम, भाईचारे और सौहार्द का जो संदेश दिया वह आज भी उद्बोधक और प्रेरणादायक है।

विद्वान लेखक श्री इन्द्रराज सिंह ने 'संत रविदास' नामक प्रस्तुत पुस्तक में संत रविदास या रैदास के उदार व्यक्तित्व और श्रेष्ठ कृतित्व का बहुत सुन्दर, विस्तृत और विद्वतापूर्ण विवेचन किया है। इसमें उन्होंने भारतीय-संस्कृति, इतिहास और धर्म की परम्परा का क्रमिक विकास बताते हुए मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का विस्तार से परिचय दिया है। रविदासजी की जीवनी और प्रतिपादित उपलब्धियों का विवेचन करते हुए उनकी सामाजिक देन स्पष्ट की है, और उनकी अष्टांग साधना

का भी परिचय दिया है । बाद में उनके सरस पदों का संकलन भी दिया है । आज जब हम नवीन आकांक्षाओं और आशाओं को संजोये देश के उत्थान और समतावादी समाज के नव-निर्माण के लिए कृत-संकल्प हैं, ऐसे समय में इन संतों की वाणी निश्चय ही हमें प्रेरणा और आशा देती रहेगी ।

इस महत्वपूर्ण रचना के लिए मैं लेखक श्री इन्द्रराज सिंह को बधाई देता हूं और यह आशा प्रकट करता हूं कि वे इसी प्रकार की श्रेष्ठ कृतियों की रचना करके साहित्य और समाज दोनों को ही अपना योगदान देते रहेंगे ।

**कृष्ण चन्द्र पन्त**

शिक्षा मंत्री,

भारत सरकार

16 जुलाई 1985

# प्राक्कथन

पूर्णिमा संत की प्रतीक है। इसलिए सभी संतों का संबंध कहीं-न-कहीं पूर्णिमा से जोड़ दिया गया है—जैसे कलाएं बदलते-बदलते चन्द्रमा अन्त में पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार साधक भी साधना करते-करते अन्ततः समता को प्राप्त कर सन्त बन जाता है। समता एक योग है जो रस्सी पर नृत्य करने वाले नट की भांति दो छोरों के बीच में अपने को साध कर रखना है और अपनी यात्रा पूर्ण करना है। ये दो छोर अचित् या भौतिक संसार और चित् या चेतना संसार हैं। भगवान बुद्ध ने इसे मध्य मार्ग कहा है। चेतना-संसार में पूर्ण प्रवेश ही भगवत्-प्राप्ति है, क्योंकि परमात्मा स्वयं चेतना-स्वरूप हैं। अहंकार को मारकर प्रेम और विरह की डोर पकड़ कर साधक अपने प्रेमी में लीन हो जाता है; यही मुक्ति है। परन्तु सन्त के लिए मुक्ति एक नई यात्रा का प्रारम्भ है। प्रज्ञा के उदय होने पर उसे सारा संसार आत्मवत् दिखाई देने लगता है और इस प्रकार दूसरों का दुःख देख कर उसमें करुणा का उदय होता है। करुणा के उदय होने पर जीव-मात्र का दुःख उसका दुःख हो जाता है। उसकी चेतना के प्रकाश से भूले-भटके मानव को मार्ग-दर्शन मिलता है। भौतिक जगत में उसके जीने का मात्र उद्देश्य यही है।

जीव का गुण चेतना है। यह चेतना कभी-कभी प्रबल रूप से भी प्रगट होती है। जिस देह में यह चेतना प्रबल रूप से प्रगट होती है उसी का नाम संत है। सत्-चित् स्वरूप वह ज्योति जिसे हम परमात्मा कहते हैं, उसका किसी भी देह में प्रगट होना असंभव नहीं; क्योंकि बीज रूप में वह हर जीव में विद्यमान है; केवल चिंगारी की आवश्यकता है। चिंगारी मिलने पर वह प्रज्वलित हो उठती है और फिर अपनी शक्ति से स्वयं जलती रहती है। जिस देह में यह प्रगट होती है वह धन्य हो जाती है। कबीर ने कहा है "बलिहारी वा घट की जा घट प्रगट होय"। रविदास में यह अन्त-र्ज्योति प्रगट हो चुकी थी। इसलिए कबीर जैसे महान सन्त ने भी इनको "साधुन में रविदास संत है" कह डाला। दोनों संत समकालीन थे, दोनों ने शोषित और दीन-हीन मूक जनता को वाणी दी।

आजकल भारत में कुछ ऐसा प्रचलन हो गया है कि हर जाति का अपना संत होना आवश्यक है। कुछ लोग वेद-पुराणों में अपना आदर्श-पुरुष ढूंढ़ते हैं और कुछ संतों और दूसरे महापुरुषों में। परन्तु संत तो जाति विशेष के लिए नहीं होते, वे तो मानव-मात्र के लिए होते हैं। भारत में संत और महापुरुष बहुत हुए और आगे भी होते रहेंगे। ये महामानव दलित मानवता का उद्धार करने के लिए पृथ्वी पर जन्म लेते रहे हैं। संत-काल में देश के कोने-कोने में त्राहि-त्राहि की चीत्कार सुनाई दे रही थी। उस समय सनातनवादी जनता को यह आभास हुआ था कि उनकी सत्ता का प्रतिद्वंद्वी कोई और भी है—एक के दो हो गय थे—हिन्दू और मसलमान, अल्लाह और राम, जो एक-दूसरे को देखना नहीं चाहते थे। मुसलमान कहते थे कि अल्लाह एक है और सभी के लिए है, हिन्दू काफिर हैं? हिन्दू कहते थे भगवान के सभी अधिकारी नहीं होते हैं, मुसलमान अधर्मी हैं।

इस उलट-पलट में जो त्राहि-त्राहि मची उसमें जुलाहा, चमार, जाट आदि सभी बोल उठे कि भगवान सभी का है, मानव-मात्र एक हैं और दो कहने वाले तथा अन्याय करने वाले गलत हैं। अन्याय पंडित और मुल्ला कर रहे थे। इस प्रकार जिनकी वाणी छीन ली गई थी, उनकी वाणी नगाड़ा बन गई। अमृत-वाहिनी गंगा भी बोल उठी कि यह शिव का नगाड़ा है। यह चमार नहीं शिव का अवतार है, इसीलिए तो वह चमार की कठौती में आ बैठी, "मन चंगा तो कठौती में गंगा।" यह गंगा वहीं रहेगी जब तक कि अहंकारी मानव इस पवित्र गंगा का प्रसाद ग्रहण नहीं करता। गुरु रविदास संत तो थे ही, अपने युग के शोषित समाज के प्रतिनिधि भी थे।

रविदास जब साधक थे, तो दास थे और जब वे सिद्ध हो गये तो रवि (सूर्य) बन गये और स्वयं प्रकाशित हो कर दूसरों को प्रकाश देने लगे। उन्होंने स्वयं को बार-बार चमार कहा है। यह उनकी महानता का प्रमाण है, क्योंकि दीनता और अधीनता (गरीबी-बन्दगी) से ही भक्ति का प्रसाद प्राप्त होता है—"चींटी शक्कर ले चली हाथी के सिर धूरि।" अहंकार और भगवत् प्राप्ति दो विपरीत चीजें हैं। संत भगवान के साक्षी होते हैं, क्योंकि सभी शक्तियों के स्रोतरूप उसके साथ वे लीन हो चुके होते हैं। गुरु रविदास भी परमात्मा में लीन हो चुके थे। इसीलिए तो जाति-अहंकार उनके लिए थोथा हो गया था। अतः उन्हें केवल समाज सुधारक मानना उनके और परमात्मा के प्रति अन्याय होगा। उनका दर्शन सीधा-सादा था, जो उस युग के अनपढ़ समाज के लिए वरदान बन गया। आज के समाज के लिए वह उससे भी

ज्यादा उपयुक्त है, क्योंकि आज का समाज दर्शन और फलसफे के लिए बहुत कम समय निकाल, केवल भौतिक सम्पदा के पीछे दौड़ रहा है।

संत रविदास ने पत्थर में भी चेतना का प्रदर्शन करके दिखा दिया और शालिग्राम को गंगा में तैरा दिया। गंगा जीवन की गतिशील गहन धारा का प्रतीक है और शालिग्राम उस गति में एक क्षण ठहर जाने का प्रतीक है। गति से ही ठहरना सम्भव है। जीवन भी तो एक क्षण का पड़ाव है। रविदास गतिशील हो गये; उनको अपने से भी अधिक गति स्वामी रामानन्द में दिखाई दी और वह उसके पीछे हो लिय और "रं रमाय नमः" का मंत्र ले लिया। गतिशील के लिए हर जगह रमण करने वाले राम से ज्यादा और किसमें आस्था हो सकती थी। गतिमान होने के कारण, उन्होंने मूर्तिमान राम को छोड़कर रमते राम, मूर्ति विहीन राम का अनुसरण किया, क्योंकि उन्हें अपनी गति कायम रखनी थी। नवधा-भक्ति भाव-भक्ति में परिणत हो गई। यह सभी परम् पुरुष परमात्मा की कृपा से हुआ। उस सर्वव्यापी परमात्मा ने उन्हें अपना माध्यम चुन लिया था।

उन्होंने शालिग्राम को तैराकर अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया। नामस्मरण करते-करते नित्य उस सत्ता के दर्शन के लिए वे सिर धुनने लगे। उन्होंने अन्न छोड़ दिया। उनकी नींद जाती रही और फिर जब, उन्होंने आपा मिटा कर प्रेम की मदिरा का प्याला पी लिया और वे अपना ध्यान भूल गये तो, उन्हें परमात्मा का दर्शन होना प्रारम्भ हुआ। वह दर्शन जिसकी कोई रूपरेखा नहीं थी और जो अनिर्वचनीय था। वे गद्गद हुए और उससे दया की याचना करने लग। दया की याचना ने उनके हृदय में दया की लहर पैदा कर दी, जिससे वे हर जीव में परमात्मा का दर्शन करने लगे। इस प्रकार उनको स्थिर होने पर अपनी यात्रा के प्रारंभ का ध्यान आया, तो अन्दर-ही-अन्दर मुस्कराकर उन्होंने, परमात्मा की कृपा का आभार प्रगट किया और फिर अबोध बालक की तरह सभी के सामने चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे, "देखो तो मैं चमार था, जिसकी छाया से ही उच्च वर्ण वाले लोग दूर भागते थे। अब प्रभु-कृपा ने मेरे वर्ण को भी उच्च बना दिया। परमात्मा पारसमणि है। वर्णाश्रम के अहंकारियो देख लो! परमात्मा के दरबार में कोई वर्ण नहीं है। तुम्हारे ये सभी भेद-भाव काल्पनिक हैं।" हर युग में एक युग-पुरुष (अवतार) समाज को एक नया मोड़ देने को जन्म लेता है और उसकी विभूतियां अनेक रूपों में उसके कार्य को पूर्ण करने में सहायक होने के लिए जन्म लेती हैं। गुरु रविदास ने समयानुकूल निम्नवर्ग में जन्म लिया था, क्योंकि उन्हें यह प्रमाणित करना था कि

जो विधान अब तक बनाये गये थे, उनकी अब आवश्यकता नहीं रही थी। अब तो किलों को छोड़कर मैदान में उतर आने का काल था। मनु महाराज ने भी तो काल के अनुसार ही नियमों में परिवर्तन किया था। जो समय की पुकार को सुन लेता है, वही जीवित रहता है, शेष को काल नष्ट कर देता है। काल का नाम ही विराट है। उसमें समस्त संसार एक दिन समा जाता है, केवल सत्य ही खड़ा रहता है। संतों ने केवल सत्य का ही प्रतिपादन किया था, इसलिए उन्होंने उस समस्त विधान का निराकरण कर दिया था जो समय के अनुकूल नहीं था।

**——इन्द्रराज सिंह**

## अनुक्रम


1. एतिहासिक धारा-प्रवाह और काल 1
2. मुस्लिम शासन और उसके पश्चात् 8
3. मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन 14
4. शैव मत 18
5. संत रविदास का जीवन-वृत्त 34
6. संत रविदास का वृहत्तर जीवन 50
7. उपलब्धियां 76
8. रविदास की समाज को देन 97
9. गुरु रविदास की अष्टांग-साधना 107
10. उपसंहार 112
11. परिशिष्ट–1 120
12. परिशिष्ट–2 147

अध्याय–1

# ऐतिहासिक धारा-प्रवाह और काल

भारत का इतिहास और संस्कृति बहुत पुरानी है। उसके साथ की संसार की बड़ी-बड़ी संस्कृतियां कभी की लुप्त प्राय: हो गईं, परन्तु यह संस्कृति निरविच्छिन्न धारा के रूप में बहती चली आ रही है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि विशाल हृदयता होने के कारण इसमें समय-समय पर आंतरिक परिवर्तन करने की अक्षण शक्ति रही है और दूसरा यह कि प्रकृति यहां सदा ही दयालु रही है, जिसके कारण भ्रांत और असभ्य आक्रमणकारियों को भी आत्मसात् करन में सहायता मिल सकी। अब से लगभग 5000 वर्ष पूर्व यहां कुछ संघर्ष के पश्चात् आर्य और अनार्य दो संस्कृतियों का गंगा-यमुना की श्वेत और नीली धाराओं के समान सम्मिश्रण हुआ था, जिसके मिलन से एक नई धारा बनी, उसी का नाम भारतीय संस्कृति है। इस संस्कृति में इस्लाम के आने से पहले तक बहुत कम अंतर आया था।

पहले संघर्ष में आर्यों ने अनार्यों की समृद्ध संस्कृति का विनाश प्रारंभ कर दिया था। उन्हें लगातार अनार्य जनजातियों से युद्ध करना पड़ रहा था। अनार्यों के परास्त होने पर वे आपस में में भी लड़ने लगे थे। समय बीतने पर आर्य और अनार्य एक-दूसरे के निकट आये। अनार्य समुन्नत संस्कृति मे सम्पन्न थे, उनका आर्यों पर बहुत प्रभाव पड़ा। आर्य और अनार्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण से जिस नई भारतीय संस्कृति का प्रारंभ हुआ, उसका प्रतीक अथर्वेद है। यह संस्कृति आर्यों की मूल संस्कृति से (जो ऋग्वेद के काल से भी पहले चली आ रही थी) नितांत भिन्न थी। यह संस्कृति धीरे-धीरे दक्षिण और पूर्व की ओर विस्तार करती गई। यह संस्कृति अब आर्यकरण का रूप धारण कर चुकी थी। पहले आर्य एक सुसंगठित नृकुल का नाम था, परन्तु अब वह सम्मान और गर्व के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।

प्रारंभ में आर्य कबीलों (जनपदों) को अनार्यों के साथ लगातार युद्ध करना पड़ रहा था, इसलिए कार्यकुशलता के लिए, उन्होंने अपने कबीलों को कर्मानुसार चार वर्गों मे विभाजित कर दिया था। इनको वे वर्ण कहते थे। वर्ण चुनने के अर्थ में आता है—जो इच्छानुसार चुना जा सकता था। यह सब समयानुकूल था। इसमें भेदभाव

83-M/P(D)600MofI&B—1

ऊंच-नीच की भावना नहीं थी, क्योंकि यह एक ही नृकुल (नसल) के मनुष्यों में आपसी विभाजन था। उसी को ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में भावनात्मक रूप दे दिया गया है। आर्येतर जातियों में कोई वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। परन्तु जैसे-जैसे दूसरी जातियां आर्य-समुदाय में मिलती गईं और फिर बाहर से आने वाली जातियां भी यहां आकर बसती गईं, तो जातियों की एक भीड़ पैदा हो गई। आज भारत में वर्ण जैसी कोई व्यवस्था नहीं है, केवल जातियां हैं, जिनका उद्गम रंग, वर्ग, कबीलों और व्यवसाय आदि पर आधारित है। आज जातियों में जो ऊंच-नीच है वह पूर्व वैदिक काल में नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था छोटे-छोटे कबीलों में संभव हो सकती थी—आजकल के विशाल जनसमूह में नहीं, जो हजारों टुकड़ों में बंटा है और जिसके 90 प्रतिशत का परम्परागत नियमों से कोई वर्ण निर्धारित नहीं किया जा सकता।

भारतीय संस्कृति के मूल कर्णधार ऋषि लोग लगभग सभी कठिन परिस्थितियोंमें उत्पन्न हुए थे, जिनको आजकल के सामाजिक स्तर से मिलान करने पर दलित वर्ग ही कहा जा सकता है। परन्तु वे लोग स्वतंत्र थे, आजकल की तरह सामाजिक बंधनों से जकड़े हुए नहीं थे। समाज में मौलिक विचारों का उद्गम भी लगभग ऐसे ही लोगों में होता है, जिनको जीवन की कठिन घाटियों को पार करना पड़ता है। ऋषियों के प्रारंभिक, और मूल विचार शिष्यों (गोत्रियों) के हाथ में आ जाने से वे समय पाकर रूढ़ हो गये और आज तक वे परम्परा से उपलब्ध हैं। उनके संरक्षण का भार वर्ग विशेष को सौंपा गया था, जिसका नाम कालान्तर में ब्राह्मण पड़ गया। मौखिक परम्परा के कारण एक ही वर्ग का उस पर सर्वाधिकार होता गया और शेष समाज पठन-पाठन से वंचित हो कर अविद्या के अंधकार में गोते खाता रहा। इससे समाज के 90 प्रतिशत लोगों की मानसिक प्रगति बन्द हो गई।

अंततः यज्ञ-हवन (वैदिकी हिंसा) और यंत्रवत मंत्रोच्चारण आदि कर्मकाण्डों से उकता कर कुछ मनीषियों को बलात् यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा कि इस सब आडम्बर के पीछे सत्य क्या है? इसी कारण (पराविद्या) आत्मा-परमात्मा की जिज्ञासा प्रारंभ हुई, जिसका बीज तो आरण्यकों के समय में ही पड़ चुका था, परन्तु वास्तविक आंदोलन उपनिषदकाल के अन्तर्गत ही हुआ। इस काल में वेद का इष्ट वेदांत में रूपांतरित हुआ, जिसकी परिसमाप्ति मूल सत्य को अपने ही अन्दर खोज (ब्रह्म) में हुई। उसके पश्चात् ही विचारों का वैज्ञानिक निरूपण हुआ, जिसके कारण षट्दर्शन आदि शास्त्र तैयार हुए।

वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरी ओर एक और नई विचारधारा जाग्रत हुई जिसने वेदों की अपौरुषेयता पर भी संदेह किया । इसमें जैन और बौद्ध मत प्रमुख थे । ये लोग ब्राह्मणों की परम्परागत सत्ता और वरीयता के विरुद्ध थे और जातिवाद को नहीं मानते थे । इसका कारण वैदिक काल से चला आया ब्राह्मण-क्षत्रिय वरीयता का संघर्ष भी हो सकता है; परन्तु प्रमुख कारण वैदिक मंत्रों के भावों का लुप्त हो जाना और जनसाधारण की पहुंच से दूर हो जाना था, जिनके केवल पाठ करने से ही पुण्य लाभ होने लगा था । जैन और बौद्धों का दर्शन केवल आचार-विचार पर आधारित था, जिसका उस समय बहुत ह्रास हो चुका था । उनका दर्शन व्यावहारिक भी था । उन्होंने संस्कृत को छोड़कर जनसामान्य की भाषा पाली में धर्म-प्रचार प्रारंभ किया था । यद्यपि बौद्ध धर्म शान्ति प्रिय था, तथापि उसके कारण ब्राह्मणों के अहंकार को चोट लगी थी और बौद्धों की उदारता के बावजूद वे सम्मान की कमी का अनुभव करते रहे थे, क्योंकि जो उच्च पद उन्हें हिन्दू समाज में प्राप्त था वह बौद्ध धर्म में नहीं हो सकता था । जैसे ही बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ ब्राह्मणों ने सत्ता संभाल ली, विद्या और बुद्धि तो उनके पास परम्परागत थी ही । बुद्ध भगवान के पश्चात् उनका संगठन दो भागों में विभाजित हो गया: एक महायान और दूसरा हीनयान । महायान बौद्ध धर्म को समाज के निकट तो लाया, परन्तु यह विचार शून्य था । हीनयान ने व्यक्तिवाद का प्रचार किया जो आगे चलकर बहुत से संगठनों में बदलता हुआ विकृत होता चला गया । ये संगठन अन्ततः हिन्दू धर्म के सम्प्रदाय बनकर रह गये और उसी में लीन हो गये । बौद्ध धर्म की आचार-संहिता पूर्णतया हिन्दू-धर्म ने ग्रहण कर ली । सत्ता फिर से ब्राह्मणवाद के हाथ में आने से जाति-बंधन और भी अधिक कठोर होता गया । बौद्ध धर्म का महायान संघ मंत्रयान तथा ब्रजयान की अवस्था में से होता हुआ सहजयान और फिर शिवमत से मिलकर सिद्ध और नाथ पंथों में परिवर्तित होता गया । हर्षवर्द्धन के पश्चात बौद्ध धर्म पूर्णतया ह्रास को प्राप्त हो चुका था । उसके पश्चात् नाथ संप्रदाय का बड़ा प्रचार हुआ, इसके जन्मदाता गुरु गोरखनाथ थे । यहीं से संतमत का सूत्रपात होना प्रारंभ होता है ।

हर्षवर्द्धन बौद्ध शासक था । उसकी मृत्यु (सन् 640 ई०) के पश्चात् भारत में कोई संगठित शासन नहीं रह गया था । भारत छोटी-छोटी सामन्तशाही शक्तियों में विभाजित हो चुका था जो राजलिप्सा, झूठी प्रशंसा तथा शौर्य के प्रदर्शन के लिए निरंतर युद्धरत थीं । उन्हें प्रजा के सुख साधन की कोई चिन्ता नहीं थी । भारत की

आंतरिक राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था बिगड़ चुकी थी। प्रजा दुखी थी और राजा झूठे अहंकार और स्वार्थ की पूर्ति में लगे थे। उनमें कोई भी प्रतिभाशाली और दूरदर्शी नहीं था। राजनतिक फूट, विलासिता, अकर्मण्यता, विमूढ़ता, सामाजिक विघटन तथा निर्बलता ने बाह्य आक्रमणों के लिए एक भूमिका तैयार कर डाली थी, जिसको रोकने की किसी में भी शक्ति नहीं थी। यह चारण काल था। सामन्त चारणों द्वारा प्रशस्तियां लिखवाने और उन्हें सुनने में ही आनन्द लेते थे। इन प्रशस्तियों (रासों) को वीरगाथा कहा गया है, जिनके ऊपर इस काल का नाम हिन्दी साहित्य में वीरगाथा काल पड़ गया।

इस प्रकार के वातावरण में निराशा के बादल छाये हुए थे। भय और अविश्वास के कारण समाज ने आत्मबल खो दिया था। बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था और अनेक मत-मतांतर खड़े हो चुके थे। जन सामान्य के अंधविश्वास और ब्राह्मणों के दंभ के कारण समाज और धर्म में अराजकता, धोखाधड़ी, हेय-कर्मकाण्ड, मंत्र-तंत्र और भूत-विद्या आदि का प्रचार हो रहा था। जाति-पांति, भेदभाव और अहंकार चर्मोत्कर्ष पर थे, परन्तु फिर भी समाज विचारहीन नहीं था। भारतीय परम्परागत विचारों की चिंगारियां अभी बुझी नहीं थीं। बौद्ध धर्म की अच्छी बातें भारतीय मुख्य विचार-धारा में समाहित हो चुकी थीं। इस प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति में लोगों का ध्यान धर्म की ओर जाना स्वाभाविक था। इस समय ही सारे देश में धर्म प्रवृत्ति और ईश्वरोपासना के बीज पैदा हुए थे। उत्तर में सिद्धों और नाथों का बोलबाला था और दक्षिण में जैन और बौद्धों के निरीश्वरवाद से तंग आकर जनता शिव और विष्णु की भक्ति की ओर झुकती जा रही थी।

इसी समय संसार में एक नई धटना घटी थी। सन् 622 ई० में पैगम्बर मोहम्मद ने अरब में एक नये धर्म 'इस्लाम' की नींव डाली। यह बहुदेवता और बहुविचार वाले अरबी कबीलों में एकेश्वरवाद का प्रचार था। यह धर्म सरल और सर्वग्राही था और अरब की परिस्थितियों के अनुकूल था। इसलिए बड़े वेग से फैलने लगा। इस्लाम के धर्म-स्थान मक्का और मदीना उस व्यापारिक मार्ग पर बसे थे जहां से भारत के साथ व्यापार होता था। ये व्यापारी भारत में भी आते-जाते थे। अरब व्यापारी धड़ाधड़ नए धर्म को अपनाने लगे और जब वे भारत में आये, तो अपने साथ धर्म प्रचारकों को भी लेते आये। 8वीं शताब्दी के अन्तर्गत भारत में इस्लाम का प्रचार एकदम हुआ। इस्लाम की सरलता और भारत की स्वभाविक

सहिष्णुता ने इस धर्म का आदर किया । दक्षिण के कुछ राजाओं ने भी इस्लाम के प्रचार में सहयोग दिया और साथ-साथ अरब व्यापारियों को भी सुविधाएं प्रदान कीं । इस प्रकार दक्षिण में अरब व्यापारी और प्रचारक प्रचुर संख्या में बस गये और उनका सम्मान हुआ । बहुत से लोग मुस्लिम बन चुके थे । इस धर्म के प्रचार का प्रभाव दक्षिण में होना स्वाभाविक था । 9वीं शताब्दी में सूफी प्रचारक भी दक्षिण में पहुंचने लगे थे । शंकराचार्य का अद्वैतवाद इस्लाम के प्रचार का लगभग समकालीन है । संभव है उस पर भी इस्लाम का प्रभाव हो । इससे पहले शैव और वैष्णवों में एके-श्वरवाद के अंकुर उदय होते दिखाई देते हैं, जिसमें प्रेमभक्ति, भाईचारे तथा बराबरी के विचार अरब प्रवासियों का प्रभाव प्रदर्शित करते हैं । दक्षिण के मुस्लिम व्यापारी शान्तिप्रिय थे, परन्तु उत्तर में इस्लाम एक तूफानी रूप धारण करता हुआ सिंध तक आ गया था ।

मोहम्मद बिन कासिम ने 712 ई० में राजा दाहिर को हटाकर सिंध पर आधि-पत्य जमा लिया । सिंध अरबों का उपनिवेश बन गया । मुहम्मद बिन कासिम सभ्य शासक था । सिंध पर आधिपत्य हो जाने के पश्चात् दोनों धर्मों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रारंभ हुआ, क्योंकि अरबों के सद्व्यवहार से दोनों धर्मों में सद्भावना बनी रही । यह आदान-प्रदान अगले तीन सौ वर्षों तक चलता रहा और शांति बनी रही । साथ-साथ ही वाणिज्य और व्यापार के कारण पारस्परिक संबंध और दृढ़ होते गये । यह सद्भावना तब तक चली जब तक कि उत्तर-पश्चिम से धर्मान्ध तुर्क लुटेरों ने धर्म के नाम पर लूटमार न प्रारम्भ कर दी । इसी समय फारस में सूफियों की एक नई धारा का उदय हुआ जो भारतीय दर्शन से प्रभा-वित थी ।

इस्लाम के प्रचार से भी पहले फारस में बौद्ध और वेदान्त दर्शन का प्रभुत्व था और उसी धारा के प्रभाव से सूफी दार्शनिक भावना की नींव पड़ी थी । फारस में अरबों के आने के पश्चात् इस्लाम के नीरस वेदांत और धर्मप्रचार तथा कट्टरता की प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमान दर्शन और भक्ति की ओर आकर्षित हुए । पुराने वेदांत से प्रभावित फारस के वेदांती मुस्लिम सूफी संत बन गये । सिंध के संपर्क में आने से सूफी धार्मिक भावना और भी पुष्ट हो गई । फारस में पुष्ट होने के पश्चात सूफी प्रभाव फिर भारत में आया । 9वीं शताब्दी में दक्षिण में भी इसका प्रचार होना प्रारंभ हो गया था । दक्षिण के शैव और वैष्णव भक्तों की चिन्तनधारा पर इसका प्रचुर प्रभाव दिखाई देता है । 12वीं शताब्दी में इसका प्रचार उत्तर में भी

खूब होने लगा, क्योंकि मंगोलों के दबाव के कारण बहुत से प्रमुख सूफी संत भारत में आ बसे थे और उनके प्रभाव से लोग मुस्लिम बनने लगे थे। अभी तक दोनों धर्मों में दुर्भावना की नींव नहीं पड़ी थी।

बौद्ध धर्म के भीतर से खोखले होने, उसके परवर्ती सम्प्रदायों में विकार और आचारहीनता पैदा होने तथा आध्यात्मिक भावना की कमी के कारण दक्षिण में उसके विकल्प स्वरूप एक नई भक्तिधारा बह निकली, जिसके प्रचारक अडयार और अलवार थे, जिन्होंने शिव और विष्णु भक्ति और विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया। इसने वर्णाश्रम और जाति की प्रमुखता को कम कर दिया। ये भक्त जैन और बौद्धों के विकल्प में ऐसे ही पैदा हुए थे जैसे कि जैन और बौद्ध हजार वर्ष पहले वैदिक कर्म-काण्ड के विकल्प में पैदा हुए थे। उत्तर में हिन्दू वर्णाश्रम धर्म का प्रचार फिर से होना प्रारंभ हो चुका था। उसका प्रभाव दक्षिण में भी पड़ना स्वाभाविक था, परन्तु यह प्रभाव देर से दिखाई दिया। ब्राह्मणों ने जैनों और बौद्धों की अच्छी बातें अपना ली थीं। जातिवाद में कुछ अंतर आया था अथवा उसकी रूपरेखा कुछ बदल गयी थी। हिन्दुओं में अहिंसा का प्रचार बढ़ गया था। इन विचारों से प्रभावित होकर अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का मूलोच्छेद करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने ब्रह्म सूत्रों (500 से 450 ईसा पूर्व) पर और गीता (200 ईसा पूर्व) पर भाष्य लिखे। शंकराचार्य ने बुद्ध के गुणों तक का नाम नहीं लिया और अद्वैतवाद का एक मिला-जुला प्रचार किया। शंकराचार्य वर्णाश्रम के पूरे पक्षपाती थे। यद्यपि उनके धर्म में "एकोब्रह्मद्वितीयोनाअस्ति"—यह चराचर जगत माया है, केवल आत्मा ही सत्य है, मनुष्य, परमात्मा और संसार एक ही चीज है, आत्मा के अलावा सभी माया है, अगर आत्मा के दर्शन हो जायें तो सब संसार का दर्शन हो सकता है—इन विचारों की प्रधानता थी, तथापि उन्होंने दो परम्परागत मान्यताओं को बनाये रखा—एक तो अधिकारी-अनाधिकारी का प्रश्न और दूसरी मूर्ति पूजा, क्योंकि शंकर मूलतः शैव थे। उनके लिए ब्राह्मणेतर लोग ब्रह्म विद्या (पराविद्या या वेदान्त) के लिए अनाधिकारी थे। फिर भी यह एकेश्वरवाद की ओर मोड़ था, यद्यपि उसमें वर्णाश्रम धर्म की झलक पूर्णरूपेण दिखाई देती थी। तर्क प्रधान और बुद्धि संगत होने के कारण उनका वेदान्त दर्शन जन-साधारण में प्रचलित नहीं हो सका, वैसे उसकी अपनी महत्ता अवश्य थी। शंकराचार्य ने ब्रह्म को निर्लिप्त निराकार माना और संसार को माया माना है, जिसमें रहस्य और भक्ति का कोई स्थान नहीं था। उनके अनुसार अविद्या से उत्पन्न अज्ञान के नष्ट होने पर

आत्मा स्वयं ब्रह्मरूप हो जाती है । इस विचार का प्रभाव सभी संतों पर है––गुरु रविदास ने भी उसे पूरी तरह स्वीकार किया है ।

**निश्चल निराकार अति अनुपम निरभे गति गोबिन्दा ।**

शंकराचार्य का शुष्क वेदांत जब सर्वप्रिय न हो सका तो, उसके विकल्पस्वरूप रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया, जिसमें अद्वैत के साथ उसके विशिष्ट गुण, चित, अचित और ईश्वर भी सम्मिलित कर लिये गये इससे उसमें रहस्य और भक्ति का समावेश हो सका । रामानुज ने पुराने धर्मशास्त्र भक्ति-परम्परा और अलवारों के भक्ति चिन्तन का सम्मिश्रण कर एक नया सम्प्रदाय बनाया जिसका नाम 'श्री सम्प्रदाय' था । अलवारों की भक्ति, दया और सेवा की गहराइयों के कारण दक्षिण में उनका बड़ा प्रभाव था । अलवारों का धर्म भक्ति भाव से परमात्मा को समर्पण करना था, जिसका नाम प्रपत्ति था । श्री संप्रदाय या वैष्णव संप्रदाय में गुरु-परंपरा, संत-सेवा, जीवदया, मनन-ध्यान, समर्पण और भक्ति में बिना भेदभाव के सभी का अधिकार आदि प्रमुख विचार थे । उसके पश्चात् तीन और आचार्य हुए, जिन्होंने अपने-अपने विचारानुसार वैष्णव धर्म का प्रचार किया । इसी चिन्तन धारा को रामानन्द ने उत्तर भारत में फैलाया था, जो महाराष्ट्रीय भक्ति परंपरा से प्रभावित थी । इस समय समस्त उत्तर भारत में मुस्लिम शासन फैल चुका था और इस्लाम का प्रचार जोरों पर था ।

अध्याय–2

# मुस्लिम शासन और उसके पश्चात्

उत्तर भारत में अरब आक्रमणकारियों के रूप में आये थे और उनकी उदार नीति के कारण हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों में संपर्क और सद्भावना का मार्ग खुल गया था। वे एक दूसरे को प्रभावित करते रहे और सामाजिक परिवर्तन होते रहे। परन्तु इस बीच में हिन्दुओं की समााजिक अवस्था अच्छी न थी, जिसका कारण सामन्तशाही और राजनैतिक फूट थी। फिर भी तीन शताब्दियों तक शान्ति बनी रही। फारस और अफ़गानिस्तान में इस्लाम का प्रचार होने के पश्चात् उत्तर-पश्चिम से ख़ूंखार और असभ्य तुर्की कबीलों ने धर्म के नाम पर लूट-मार कर दी। ये लोग लुटेरे थे, धर्म तो केवल बहाना था। 14वीं शताब्दी तक मुस्लिम प्रभुत्व पूरी शक्ति के साथ उत्तर भारत में स्थापित हो चुका था। दक्षिण में कुछ राज्य अपने अस्तित्व के लिए लड़खड़ा रहे थे। प्रारंभ में आतंक और अपने पक्ष की सार्थकता को समर्थन देने के लिए सुलतानों ने (जो लगभग विदेशी थे) अत्यधिक अत्याचार किये थे। यद्यपि सभी शासक क्रूर नहीं थे फिर भी बीच-बीच में कुछ शासकों की धर्मान्धता और अत्याचारों के कारण आपस में अविश्वास और घृणा की भावना ने स्थान ले लिया, था क्योंकि उनकी प्रतिद्वन्द्विता के लिए भारत में कोई शक्ति शेष नहीं रही थी।

प्रारंभिक तुर्कों (सुल्तानों) का शासन धार्मिक कट्टरता पर आधारित था वे लगभग अनपढ़ और असभ्य थे जो यह दिखाना चाहते थे कि वे कट्टर मुसलमान हैं। उन्हें धर्म की वास्तविकता का कुछ पता नहीं था। वे केवल मुल्ला-मौलवियों की सलाह पर चलते थे। तुर्की शासक पूरी तरह विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे। उनके लिए इतना ही बहुत था कि वे इस्लाम का विधान लोगों पर थोप दें और आनन्द से जीवन व्यतीत करें।

भारतीय इतिहास में विदेशी आक्रमण तो होते ही रहे थे, परन्तु यह आक्रमण एक नवीनता लिए हुए था। पहले आक्रमण जिन असभ्य जातियों ने किये थे उनको भारत की समुन्नत संस्कृति ने सहज में ही आत्मसात् कर लिया था, परन्तु

इस्लाम के आने पर ऐसे सम्मिश्रण और एकीकरण में बाधा आई। इसका कारण यह था कि एक ओर तो सरल और सीधा इस्लाम था, जिसमें सैनिक अनुशासन जैसी भावना थी और दूसरी ओर उदार हिन्दुत्व था जो कर्म-काण्डों के कारण क्लिष्ट बन चुका था तथा जिसमें व्यक्तिवाद की भावना अधिक थी। इस्लाम एक संगठित और अनुदार संस्कृति लेकर आया था जिसकी नीति धर्म पर आधारित थी। इसके सामने भारत की पुरातन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक नीतियों की जड़े हिल गईं। इस चोट से भारत की उदार विचार-धारा की विशाल हृदयता संकीर्णता में बदल गई। इसी कारण घर-घर में देवता और अंध-विश्वास का बोलबाला हुआ।

वस्तुत: इस्लाम का प्रारंभिक प्रचार और मोहम्मद साहब के आदेश अरब कबीलों के लिए आवश्यक थे, परन्तु उनके अनुयायियों ने इन्हें विधान मान कर सभी जातियों के लिए प्रयुक्त किया। अरब और फारस के पश्चात् उनका सम्पर्क सम्पन्न भारतीय संस्कृति के साथ हुआ, जिसे समझने में उन्हें अभी देर लगनी थी। साथ-साथ भारत का अपना दुर्भाग्य भी था कि यहां की राजनैतिक और सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति बहुत विकृत थी। इसलिए इस्लाम के साथ-साथ जो भी खूंखार कबीले भारत में आये उन्होने यहां के लोगों का सम्मान नहीं किया। अभी तक हिन्दुत्व पर कोई कठिन चोट नहीं आई थी। जैन धर्म से हिन्दुत्व को कभी भय नहीं रहा, बौध धर्म हिन्दुत्व का निकटतम प्रतिद्वन्द्वी था, परन्तु कर्म-काण्ड और व्यवहारिक स्तर पर उसने भी ब्राह्मणवादी धर्म से इस प्रकार साम्य पैदा कर लिया था कि कालान्तर में वह हिन्दू-धर्म का एक सम्प्रदाय ही बन कर रह गया। आर्यों के आने के पश्चात पहली बार भारत को एक नई स्थिति का सामना करना पड़ा था।

सुल्तानी शासन बहुत कुछ राजनैतिक अराजकता का काल था। अलाउद्दीन खिलजी धर्मान्ध था। तुग़लक वंश की प्रशासनिक और आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। सैयद शासन चलाने में कमजोर थे। लोदियों ने कठोर शासन लागू किया था, परन्तु सिकन्दर लोदी प्रतापी शासक होने के साथ-साथ धर्मान्ध और कट्टर शासक था। उसकी हिन्दुओं के विरुद्ध क्रूरता जगत प्रसिद्ध है। वह जौनपुर के सिरकियों को नष्ट करना चाहता था कदाचित इसीलिए कि वे हिन्दू विचार स्वतंत्रता का समर्थन करते थे। कबीर साहब से संपर्क होने के पश्चात् सिकंदर लोदी बदला हुआ मनुष्य दिखाई पड़ता है।

तुर्कों के हमले के समय ही हिन्दू समाज एक दुर्दशा का समाज था। निम्न वर्ग के लोगों का समाज में कोई सम्मानजनक स्थान नहीं था। मुसलमानों के आने के पश्चात् अवस्था और भी बिगड़ गई। इस समय हिन्दू समाज लगभग परिवर्तनहीन बना रहा और उसमें बहुत से विकार आ चुके थे। मुसलमानों में भी वण विभाजन जैसी अवस्था पैदा हो गई थी। हिन्दू-चतुर्वर्ण को तो उन्होंने स्वीकार ही कर लिया था। दलित वर्ग का शोषण कहीं-कहीं और भी बढ़ गया था, क्योंकि मुस्लिम शासक केवल उच्चवर्ग के लोगों से संपर्क रखना चाहते थे। उन्होंने किसान और लड़ाकू जातियों को ही अधिकतर मुसलमान बनाया था और हिन्दुओं के निम्नतर वर्ग को तनिक भी आदर नहीं दिया था।

जातिवाद और भी दृढ़ होता जा रहा था। हिन्दुत्व अनेक पाखण्डों, मिथ्याचारों और बाह्याचारों से घिरा था। ब्राह्मण वर्ग ने अपनी परंपरागत सत्ता का दुरुपयोग करना प्रारंभ कर दिया था। अलौकिक और असाधारण सिद्धियां ही ऊंचे जीवन स्तर का चिन्ह मानी जाती थीं। व्रत और अनुष्ठानों की भरमार थी। मंदिर विलासिता के केन्द्र बन चुके थे। महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण के समय सोमनाथ के मंदिर में पांच सौ देवदासियां और तीन सौ गायन-वादन करने वाले थे। देवदासी और वेश्यावृत्ति की प्रथा जोरों पर थी।[3]

परन्तु यह परिवर्तन का समय था, इसमें पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता थी। इस्लाम के आने से समाज़ में एक नई चेतना जाग्रत हुई थी। मूर्ति-भंजन और पुरोहितों के अनादर ने उस समय की धार्मिक श्रद्धा और आस्था का उन्मूलन कर दिया था। समाज में ब्राह्मणों की परंपरागत उच्चता पर से विश्वास उठ चुका था। परंपरा को राजनैतिक संरक्षण न मिलने से एक प्रकार की निराशा का वातावरण होना स्वाभाविक था। यद्यपि वैचारिक कट्टरता हिन्दुओं में नहीं थी फिर भी जिस प्रकार का व्यवहार मुसलमान हिन्दुओं से करते रहे थे, उससे भी कहीं अधिक बुरा व्यवहार हिन्दू अपने ही समाज के निम्नतर श्रेणी के लोगों पर कर रहे थे।

मुसलमानों के जाति-व्यवहार में भाई-चारा और बराबरी को देखकर दलित वर्ग में भी कुछ चेतना जाग्रत होती जा रही थी। इसीलिए निम्नवर्ग के संत इस समय की सामाजिक क्रांति के अग्रदूत बने थे। संतों ने यही तथ्य सामने रखे थे। वे केवल एक सत्य-धर्म के समर्थक थे। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा दोनों धर्मों के लोगों की आंखें खोल दी थीं। उनके अनुसार मानवता की उपेक्षा करके

अल्लाह और भगवान के नाम पर दोनों ही धर्म भारी गलतियां कर रहे थे । एक ने खुदा का हुक्म कहकर हिन्दुओं को काफिर कहा था और दूसरे ने भगवान के हुक्म के अनुसार शूद्र और हरिजन को अमानुष ठहराकर शोषण की सामग्री समझा था ।

समाज में निराशा का होना स्वभाविक था, परन्तु भारत का परंपरागत चिन्तन-शील मस्तिष्क निराश नहीं था, प्रत्युत अशान्त था । वह एक नई दिशा के निर्धारण के गहन चिन्तन अथवा नये विधान की खोज में था, जिससे निरर्थक रूढ़ियों और विस्तार को त्याग कर सार रूपी सत्य मार्ग का निर्देशन हो तथा बाह्य प्रदर्शन और क्षोभ को त्याग कर आन्तरिक शक्ति का संचय और प्रयोग किया जाय । यह एक आध्यत्मिक विद्रोह था, जिसकी ऊर्जा का भंडार भारतीय मानस में सर्वदा भरपूर रहा है। दलित वर्ग जो अभी तक यह समझ बैठा था कि उसका नीच कुल में पैदा होना पूर्व के जन्मों के कर्म का फल है और उसी अवस्था में रहकर उसको भोगने के अलावा और कोई चारा नहीं है, अब यह सोचने लगा था कि यह विधान झूठा, मनुष्य-कृत अथवा काल्पनिक (कृत्रिम) है और उसके पीछे शोषण की भावना छिपी है । उन्हें अब यह ज्ञान हो चला था कि वे अब तक भूले हुए और भ्रम में फंसे थे । अब सब शक्तियों का स्रोत परमात्मा उन्हें सहज में ही प्राप्त था जिसे प्राप्त करने पर और किसी चीज़ को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती ।

संत विचार-धारा इस्लाम के आगमन के कारण उत्पन्न नवीन परिस्थितियों की परिधि में, भारतीय जीवन का पुनःस्थापन और पुनर्जागरण था, जिसमें परंपरा और नवीनता का सम्मिश्रण कर एक नई बात कही गई थी । यह एक नई दिशा का निर्देशन था और विद्रोह भी, क्योंकि उस समय के मनीषियों को सत्य की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ काट-छांट अवश्य करनी थी और साथ-ही-साथ सरलीकरण भी। जिस प्रकार एक सिपाही युद्ध के मैदान में कम-से-कम बोझा लेकर जाता है जिससे उसका विवेक और चेतना बनी रहे, उसी प्रकार से संतों ने भाषा और विद्वत्ता का फालतू बोझ फेंककर आध्यात्मिक युद्ध के लिये अन्तर्ज्योति को प्रज्वलित किया और पूर्ण श्रद्धा और समर्पण के साथ भक्ति-क्षेत्र में युद्धरत हुए । यह मानव-प्रेम की अकथ कथा है, जिसमें पहले श्रद्धा, फिर प्रज्ञा और फिर करुणा उदित होती है । संतों ने मानव प्रेम के लिए आत्म बलिदान दिया—यही सबसे बड़ा यज्ञ है । संत अपना तन-मन-धन प्रेम की अग्नि में झोंक देता है—जिस प्रेम से सारा संसार संचालित है । मानव (आत्मा) उस असीम प्रेम का अंश मात्र है जिसे हम परमात्मा

कहते हैं। परमात्मा पूर्ण प्रेमरूप है—पूर्ण के लिये अंश का बलिदान मिलन का एक प्रतीक है। जैसे संत रविदास न कहा है :

**कहै कलाली प्याला देऊं,**

**पीवन हारे का सर लेऊं ।।**

अज्ञान, आडम्बर, शोषण, भेद-भाव और अन्याय से लुटती हुई मानवता को देखकर ही संत की करुणा जागती है। भगवत्-प्रेम मानव प्रेम के बिना पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि भगवान का सिंहासन मानव हृदय में है।

इस सहस्रमुखी प्रेम (भक्ति) धारा में भक्त रविदास का भी अपना स्थान और महत्ता थी। उस अनन्त की वाणी, जो हर जीव में झंकृत हो रही है, यहां भी मुखरित होने लगी थी। इस अमर संगीत में गुरु रविदास ने भी वही हाथ बंटाया जैसा कि दूसरे संतों ने बंटाया था। इससे नीरस और निराश जीवन में एक आनन्दमयी प्रेम भावना जाग्रत हुई और फिर उसके द्वारा परमात्मा के धरती पर अवतरण के कारण शोषण की विशाल वैतरणी ने भी शान्ति धारण कर ली। कुछ लोगों का कहना है कि भक्ति हतोत्साह, उदासीनता और हीन-भावना की कृति है परन्तु यह ना-समझी है। भक्ति स्थूल और भौतिक शक्तियों के विरुद्ध सूक्ष्म और आध्यात्मिक शक्ति की विजय थी, जिसके सामने उद्दंडता और अन्याय को सर झुकाना पड़ा।

कुछ लोग भक्तमाल को सांप्रदायिक ग्रन्थ कहते हैं, परन्तु यदि कट्टर साम्प्रादायिक लोग भी किसी की प्रशंसा करने लगें तो समर्थन और भी दृढ़ होता है। 'भक्त माल' ने ही नहीं धन्ना भक्त ने भी उनकी प्रशंसा की थी। यहां तक कि झांसी की रानी और मीराबाई जैसी संभ्रांत घराने की महिलाएं भी उनकी शिष्या बन गई थीं। इससे उनके प्रभाव की पराकाष्ठा प्रमाणित होती है। रविदास की वाणी में भी इसकी झलक दिखाई देती है।

**ऐसी लाज तुझ बिनु कउनु करै**

**गरीब निवाज गुसयां मेरे माथ छत्र धरै।**

कुछ लोगों का विचार है कि जबकि अन्य संतों के प्रति समाज की उपेक्षा और अपमान से उत्पन्न आक्रोश स्पष्टतः मुखर हुआ, संत रविदास के प्रति सम्मान और

समर्थन की भावना थी। इसका एक ही कारण है कि संत रविदास ने बहुत कम अप्रिय सत्य बोलने का प्रयास किया। उन्होंने खंडन-मंडन को छोड़कर केवल भक्ति में ही अपने चित्त को लगाये रखा। परन्तु उससे यह नहीं भूल जाना चाहिए कि खण्डन-मण्डन करके और समाज की कटुता की चिन्ता न करके, जिन्होंने सत्य का प्रतिपादन करते हुए आगे का रास्ता साफ कर दिया था, उनको धन्यवाद दिये बिना गुरु रविदास आगे नहीं बढ़ सकते थे, इसलिये उन्होंने नामदेव और कबीर जैसे संतों का नाम बड़े सम्मान से लिया है।

अध्याय–3

# मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन

भारतीय विचारधारा में वेद-उपनिषद् और उनसे अनुभूत वेदान्त व दर्शन मुख्यत सांख्य तथा योग और योग से उद्भूत नाथ पंथ और सिद्ध पंथ, बौद्ध-विचार-धारा, शैव और वैष्णव भक्ति-धाराएं और समकालीन लोक विचारों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सन्त विचारधारा को प्रभावित किया था। बाहर से आने वाले सूफी और इस्लामी विचारों ने भी संत विचार-धारा को प्रभावित किया था। इन सबके सम्मिश्रण से संतों की एक मौलिक विचारधारा निकली थी, जिसमें सभी रूढ़ियों को तोड़कर एक नई जागृति का संदेश था। जिन मानवीय विचारों की संतों ने प्रतिष्ठा की थी उनकी आज भी आवश्यकता है।

इस समय तक राजनैतिक क्षेत्र में हिन्दू सत्ताहीन हो चुके थे। इस्लाम भक्ति-परायण धर्म था तथा सूफियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और उनके प्रभाव से भगवद्-भक्ति और आत्मसमर्पण की भावना प्रबल होती जा रही थी। दक्षिण की वैष्णव भक्ति और उत्तर का सूफी मत निकट आते जा रहे थे। इस प्रकार शंकर के एकेश्वरवाद से लेकर अलवारों की प्रपति* और मानवता की भावना ने रामानुज के विशिष्टाद्वैत से मिलकर, महाराष्ट्री शैव विचारों से मिश्रित परम्परा और जातिवाद-विरोधी भावना लेते हुए, उत्तर भारत में एक नए आन्दोलन का रूप ले लिया था जिस पर इस्लाम का भी प्रभाव था। उसी का नाम मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन है जिसे संतकाल भी कहा जाता है। यह सात्वतों की भक्तिधारा को अलवारों द्वारा ग्रहण करने से प्रारम्भ होता है। उत्तर भारत में यह आन्दोलन बौद्ध धर्म और उसकी नई धारा सहजयान, सांख्य, योग तथा सिद्ध और नाथों का प्रभाव लेता हुआ सूफी मत की नई चेतना को ग्रहण कर, एक नई और मौलिक भक्ति भाव-धारा का स्रोत बना। इस भक्ति-धारा का उत्तर भारत में पादपारोपण स्वामी रामानन्द ने किया था और सिंचन तथा संवर्धन कबीर ने। परवर्ती संत उसकी ध्वजा को मानव कल्याण के लिए फहराते रहे।

---

*प्रपत्ति भावपूर्ण समर्पण का नाम है—शरणागति।

डा० ग्रियर्सन लिखते हैं—पुरान धार्मिक मतों के अंधकार से ऊपर बिजली की चमक के समान अचानक एक बात दिखाई देती है। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहां से आई; कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता

वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में भक्ति शब्द का उल्लेख नहीं है, परन्तु देवताओं की स्तुतियों में हृदय के प्रेम और अनुराग की भावना व्यक्त हुई है। इन भावुक स्तुतियों में इष्ट के प्रति शरणागति की भावपूर्ण व्यंजना निहित है। प्रभु के प्रताप से सिद्धि की प्राप्ति होती है यही सिद्धि उपनिषदों में कही गई है। गीता और भागवत् में भक्तिधारा का निरन्तर स्रोत बहता दिखाई देता है। गीता में भक्ति को कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ कहा गया है :

कालक्रम की दृष्टि से भक्ति का विकास गीता से प्रारम्भ होता है। भक्ति के सभी तत्व मूलतः भारतीय हैं जो गीता में पाये जाते हैं। परन्तु भक्ति आन्दोलन की नई चेतना जो पहले दक्षिण में उदित हुई थी, उत्तर में आकर धीरे-धीरे समस्त भारत में फैल गई। बाह्य प्रभाव से भी यह प्रेरित हुई दिखाई देती है। इस्लाम और सूफी संतों का प्रभाव भारतीय मानस को नये विचारों के लिए प्रेरित कर रहा था, जिसमें एकेश्वरवाद की ओर झुकाव, मानव-समानता और भाई-चारे की भावना तथा भगवान के प्रति आत्म-समर्पण और उसकी दया के सहारे जीवन व्यतीत करने की प्रधानता थी।

सूफियों के कारण परम्परागत भक्ति भावना का पुनरुधार हुआ और उसमें नई चेतना आई। उसने साधारण जीवन में यह आशा जाग्रत कर दी कि भगवान दयालु है, भक्त-वत्सल है और अपने सच्चे भक्तों की अवश्य खबर लेता है। इसी कारण चारों ओर भक्ति के स्रोत बहने लगे। इस आन्दोलन का प्रभाव रामानुज जैसे विद्वानों पर भी पड़ा। क्योंकि इसके पीछे प्रेम भावना छिपी थी और इसका उदय भी प्रेम की चिंगारी से ही हुआ था अतएव यह जनसाधारण का धर्म बन गया। यही कारण है कि उस काल के कवियों ने भगवान और उनके भक्तों की संगति की प्रशंसा की है :

**जिह कुल साध वैसनौ होई**
**बरन अबरन रंकु नहीं ईसरू**
**विमल जासु जानिये जगि सौई।**— रविदास

शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार भक्ति भगवान के प्रति अनुराग है। भक्ति का अधिकार सभी जातियों को है—यहां तक कि चांडाल और अछूत भी इसके अधिकारी हैं (सूत्र –78)। परन्तु छोटी जाति के लोग दूसरों से मौखिक शिक्षा ले सकते हैं—सीधे धर्म ग्रंथों से नहीं (9वीं तथा 10वीं शताब्दी)। शांडिल्य भक्ति वेदों पर आधारित है। परन्तु तमिल के भक्तों ने भक्ति को हृदय की भावना के साथ जोड़ा है। जो एक रहस्यपूर्ण अनुभव है, जिसका लोकवेद से कोई सम्बन्ध नहीं है—वे 'तमिलप्रबन्धम्' को ही तमिलवेद कहते हैं।

दूसरा भक्ति सूत्र 'नारदभक्ति सूत्र' है। वह भी 9वीं और 10वीं शताब्दी में लिखा गया। भक्ति स्वयं ही उसका फल है (सूत्र 26) अथवा भक्ति भक्ति के लिए है। भक्ति ईश्वरच्छा के अनुसार रहने या ईश्वरमय होने की भावना है (सूत्र 67–79)। भक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं, क्योंकि भक्ति से भगवान का साक्षात्कार होता है।

इस्लाम की एकेश्वरवाद की भावना, भ्रातृभाव और मूर्ति पूजा का खण्डन आदि का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त को ज्ञानमार्ग की नीरसता ने सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं होने दिया। बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था। उत्तर की सात्वत भक्ति धारा दक्षिण में पहुंची। अलवारों ने इसे आगे बढ़ाया। इससे तन्मयता के साथ शरणागति तथा अनन्य प्रेम की प्रेरणा मिली। इस परम्परा को व्यवस्थित रूप यमुनाचार्य ने दिया और अलवारों की वाणी का संकलन कर 'दिव्य-प्रबंधम्' नामक ग्रंथ तैयार किया। इन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन ही नहीं किया, इनके द्वारा पहली बार भक्ति को दार्शनिक समर्थन मिला। रामानुजाचार्य ने इसे शास्त्रबद्ध किया और 'श्री संप्रदाय' की नींव डाली। उन्होंने मायावाद का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत की नींव डाली। उनके पश्चात् विभिन्न आचार्यों ने इस संप्रदाय को चलाया। रामानन्द ने इसी भक्ति धारा का उत्तर भारत में प्रचार किया और यह उत्तर भारतीय विचारधाराओं के सम्मिश्रण से आगे बढ़ी। आचार्य शंकर के द्वारा जीव और ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार कर लेने पर भक्ति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था, जिसका विरोध रामानुजाचार्य ने किया, शंकराचार्य के परम्परागत अधिकारी-अनाधिकारी की भावना का विरोध भी इसी काल में हुआ।

मध्यकाल का भक्ति आन्दोलन भागवत-काल के वर्णाश्रम और वैदिक परम्परा के विरुद्ध था। यह पाखंड और कर्मकाण्ड के विरुद्ध एक नारा था। परन्तु बौद्धों और जनों के आदर्शवादी आचार-व्यवहार से साम्य रखता था। यह सूफी प्रभाव की नई

चेतना के कारण भी हो सकता है, जिसमें अत्यंत मानवतावादी, सर्वग्राह्य और उदार भावों की भरमार थी ।

8वीं सदी के प्रारम्भ में दक्षिण में शैव और वैष्णव भक्तों ने बौद्धों और जैनों को शिव और विष्णु की उपासना के लिए प्रेरित किया । पहले शैव भक्तों ने शिव-भक्ति का मार्ग-दर्शन किया । ये लोग अडियार, अडवार या नायनार कहे जाते थे । वैष्णव भक्त जिन्होंने दक्षिण में भक्ति का प्रचार किया, अलवार कहे जाते थे । ये भक्त लगातार अपने शिष्यों की टोली के साथ स्थान-स्थान पर भजन गाते घूमते रहते थे । वैष्णवों का ग्रन्थ 'नालयीर प्रबंधम्' या 'दिव्य प्रबंधम्' है, जिसे तमिल-वेद भी कहा गया है । ये लोग विष्णु को ही प्रमुख देवता मानते थे ।

अडयारों और अलवारों ने बौद्ध और जैन मतों की बहुत-सी बातें ग्रहण कर ली थीं । बौद्धों ने संसार को क्षणिक मान कर भक्ति-साधना की थी । मनुष्य जन्म का निरर्थक होना, इच्छाओं का दमन, संन्यास और कर्मकाण्ड आदि बौद्धों की देन हैं । मूर्तिपूजा, लिंग-पूजा, स्तूप, मंदिर, तीर्थस्थान, व्रत, उपवास-संघ के नियम और जातियों की सामाजिक एकता का भाव भी बौद्धों से लिये गये हैं । संभव है इस्लाम का भी कुछ प्रभाव इन पर पड़ा हो । जैनों से इन्होंने आचार-संहिता, जीवों की रक्षा और उनका आदर आदि भाव लिये हैं । ये सम्प्रदाय मानव-मानव की समानता और भ्रातृभाव से ओत-प्रोत थे । उन्होंने अपने विचारों के प्रचार के लिए केवल लोकभाषा का सहारा लिया था ।

83-M/P(D)600MofI&B—2

अध्याय—4

# शैव मत

नायनार या अडवारों को शैव मत के प्रचारक और गुरु कहा गया है । इनमें पहले तीन प्रमुख संत नाना सम्बन्धार, अप्पार और सुन्दरार या सुन्दरमूर्ति थे, जिन्हें वैदिक ऋषियों की तरह कवि, गायक और शिव-भक्त कहा गया है। ये अडवार शिव को पिता-माता और सगे सम्बन्धी कहते थे । उनकी भक्ति पश्चाताप से भरी थी जिसे सूफी तोबा कहते हैं। यह हीन भावना न थी प्रत्युत ईश्वर की कृपा को ग्रहण करने के लिए झुकना था, क्योंकि भक्ति अंहकार के टूटे बिना नहीं मिल सकती ।

इन भक्तों में प्रेम और भक्ति के साथ-साथ एकेश्वरवाद की ओर भी पूरा झुकाव था जिस पर नये विचारों का प्रभाव संभव है; पर ये शिव-भक्त होने के साथ-साथ दूसरे देवताओं को भी मान्यता देते थे, जो सूफी और इस्लाम के विचारों के विरुद्ध था। अप्पार ने ईश्वर को ज्योति स्वरूप कहा है कुरान शरीफ़ में भी ऐसा ही कहा गया है (कु० 24/35) । अप्पार भगवान का स्थान मानव-हृदय मानते हैं जो सूफी मत के निकट है । वे उन्हें माता-पिता भाव से अभिहित करते हुए रहस्यवाद के मल भाव का प्रतिपादन करते हैं । वेदों में भी परमात्मा को माता-पिता कहा गया है । (ऋ० 14.1), उनके लिए प्रेम भक्ति ही सब कुछ है :

## लिंगायत (वीर शैव)

शव मत तमिलनाडु से कर्नाटक में पहुंच गया, जिसको चौथे **शैव आचार्य बसावा** ले गय और कर्नाटक में शिव पूजा प्रारंभ कर दी । बसावा ने जातिवाद तथा मूर्तिपूजा का पूर्ण खंडन किया। बसावा सुधारवादी थे । उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म और पोपापंथी के विरुद्ध प्रचार किया । उन्होंने वेदों की अधिकारिता को नहीं माना और पहली बार पुनर्जन्म के सिद्धांत का खण्डन किया और उसे ठुकरा दिया । बसावा के विचार कबीर और रविदास के निकट थे । उन्होंने संसार को बंधन का कारण नहीं

मामा—उनका कथन था कि दुराचार ही नीचता और सुकर्म ही उच्चता है। तनिक मिलान कीजिए

**रविदास सुकरमन करन सों नींच ऊंच हो जाय**
**करइ कुकरम ऊंच भी तो महानींच कहलाय।**

बसावा के सिद्धांत भाई-चारा, समानता और स्वतंत्रता साधारण जनता के लिए बिलकुल नये थे। ये पहले भारतीय अग्रदूत (प्रोफेत) थे, जिन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा को माना और सभी व्यवसायों की समानता का आदेश दिया। केवल गुण (तकवा) और आचार (अखलाक) के अनुसार भेद मानना कुरान शरीफ की शिक्षा है (कु० 2—177)। इस्लाम में भी श्रम की प्रतिष्ठा मानी गई है। इसमें दासता का भी विरोध किया गया है। बसावा ने पहली बार सभी स्त्री-पुरुषों को बिना जाति-वर्ण भेद के अपने समाज में सम्मिलित किया। उनकी दया की भावना उत्कट थी।

बसावा ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और साथ-साथ उन पुजारियों का भी जो अंधविश्वासों की रक्षा करते हैं। उन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, पेड़-पूजा, मंदिर आदि सभी को अस्वीकार किया। उन्होंने कहा भगवान को मंदिरों के कारागार से निकालो और मनुष्य के हृदय में स्थापित करो, जहां आत्मा रहती है। यह शरीर आत्मा का मंदिर है। उन्होंने जन्म-मरण के संस्कारों का बहिष्कार किया। उनके पवित्र नियमों पर सूफी और इस्लाम के नियमों (अल्लामा) की छाप थी। उन्होंने वेद-पुराणादि के बहिष्कार का प्रतिपादन किया।

लिंगायतों के पश्चात् सिद्धर आये जो प्रेम भक्ति के मार्ग पर चलने वाले थे। उन्होंने प्रेम और परमात्मा को एक माना। पातिराकिरीयार उनके प्रमुख आचार्य हुए जो केवल एकेश्वर को मानने वाले थे। उन्होंने मूर्ति पूजा बिल्कुल बन्द कर दी थी। वे जातिवाद में बिल्कुल विश्वास नहीं करते थे—मानव-मानव में भ्रातृभाव पैदा करने की उनकी चेष्टा थी।

## वैष्णव मत और अलवार

**वैष्णव मत बहुत पुराना है।** ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व ही वैष्णव मत का उदय हो चुका था। वैष्णव मत के कितने ही रूप रह चके हैं। वासदेव, सातवत, भागवत् और पंचरात्र आदि। वैष्णवों को पहले एकान्तिक कहते थे जो एक

सम्प्रदाय बन गया और उसके पश्चात ही पंचरात्र या भागवत् धर्म का प्रचार हुआ। यही धर्म सात्वत क्षत्रियों के संरक्षण में सात्वत धर्म कहा जाने लगा। इस धर्म पर योग और सांख्य का भी प्रभाव है। इसका प्रारंभ कब हुआ किसी को भी पता नहीं है। इन्हीं साम्प्रदायों ने दक्षिण में पहली बार शैव अडवारों और वैष्णव अलवारों की भक्ति-साधना का पुनरुत्थान किया। भक्ति को आधुनिक रूप देने का श्रेय द्रविड़ देश को ही है इसीलिए **"भक्ति द्रविड़ ऊपजी लाये रामानन्द"** कहावत प्रचलित हुई है। अलवारों ने पहले पहल भक्ति को नया रूप दिया, जिसमें मानव-मानव प्रेम, ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, एकेश्वर अथवा विष्णु की भक्ति का संदेश दिया। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवक्ता **रामानुजाचार्य** ने भक्ति को शास्त्रीय रूप दिया। वे वैष्णव धर्म की स्थापना करने बनारस आये थे। उसके शिष्यों को 'श्री वैष्णव' कहते हैं।

अलवारों ने सात्वतों की भक्ति-परम्परा को आगे बढ़ाया था। **अलवार का शाब्दिक अर्थ है–वह जो गहरे पानी में घुसकर गोता लगाये,** वे निरन्तर ईश्वर से सम्पर्क रखने के लिए व्याकुल रहते थे, सूफी तथा इस्लाम के कारण और बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण दक्षिण में अलवारों की एक लहर पैदा हुई, जिन्होंने बौद्ध परम्परा के अनुसार संस्कृत को छोड़कर तमिल में अपने भजन (गीत) गाये। ये गीत भक्ति और दर्शन का सम्मिश्रण थे, उन्होंने वैदिक कर्म-काण्ड और जाति प्रथा को प्रोत्साहन नहीं दिया था, इसलिए उनका प्रचार दूर-दूर तक हो गया। उन्होंने ईश्वर के प्रति भक्ति-भावपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया। उनके अनुयायियों के लिए ईश्वर प्राप्ति का एक ही मार्ग था--ईश्वर इच्छा के प्रति भक्तिपूर्ण आत्मसमर्पण। ईश्वर वेदों के लिए भी अज्ञेय है, किन्तु भक्त को वह सहज प्राप्य है। उनके अनुसार ईश्वर की कृपा जिस प्रकार उसका ध्यान करने वालों पर होती है उसी प्रकार आंख मूंदकर आत्म-समर्पण करने वालों पर भी होती है। इस शिक्षा ने अधिक-से-अधिक पद-दलित और पतित लोगों को सांत्वना दी और उनका उद्धार किया। **इन अलवारों में सभी जाति और वर्गों के लोग सम्मिलित थे।** इनमें एक महिला भी थी—आंडाल। **इनका काल ईसा की 7वीं और 9वीं** शताब्दियों के बीच में माना जाता है। इन अलवारों के बीच एक अन्त्यज भी था—तीरुप्पन या अप्पन, जिसे मंदिर में घुसने का अधिकार नहीं था। इसलिए वह कावेरी के तट पर ही उपासना किया करता था। मंदिर का एक संत-सेवक लोक सारंग मुनि नित्य कावेरी से जल लाया करता था। लोक सारंग मुनि ने एक बार तीरुप्पन को रास्ते में पड़ा देखकर पत्थर फेंककर घायल कर

दिया। तिरुप्पन समाधिस्थ था। उसी रात को सारंग मुनि को **भगवान रंगनाथ** ने स्वप्न में आदेश दिया कि वह अप्पन को अपने कंधों पर बिठाकर मंदिर में ले जावें। दूसरे दिन तिरुप्पन के मना करने पर भी, सारंग मुनि उसे अपने कंधों पर बैठाकर मंदिर में ले गये। इस कथा का रामानुज पर इतना प्रभाव पढ़ा कि वे बराबर लोगों के सामने इस कथा को दोहराते थे और कहते थे कि भगवत कृपा का अधिकार केवल कुछेक विशेष जातियों के लोगों को ही प्राप्त नहीं है।

अलवार वैष्णव सम्प्रदाय के पहले गुरु और प्रचारक थे। उन्होंने एकेश्वरवाद की प्रबल भावना का प्रचार किया। वे केवल विष्णु भक्ति पर जोर देते थे और गायन-वादन के द्वारा अपनी उपासना करते रहते थे। उन्होंने स्त्री-पुरुष, ऊंच-नीच और जाति-पांति के भेदभाव के बिना लोगों को दीक्षा दी। उनमें से कुछ तो जाति बहिष्कृत लोग थे। रामानुज जाति-प्रथा का ऐसे लोगों के बीच कोई स्थान नहीं मानते थे जो आध्यात्मिक दृष्टि से ऊंचे उठ चुके हों। रामानुज ने मैसूर के राजा विट्ठलदेव के सहयोग से एक मंदिर बनवाया था। इस मंदिर में उन्होंने अछूतों को प्रवेश करने की प्रथा चलाई थी। **उन्होंने अछूत के लिए एक नया शब्द गढ़ा था—'तिरूकुलतर' (उच्च कुल वाले)**। वे जातिभेद और धर्म-भेद से ऊपर थे—मानव-प्रेम, जीव-प्रेम, दया और अंहकारहीनता ही उनका प्रचार था।

हिन्दुस्तान जातिवाद का शिकार था और पूर्व कर्मों के अनुसार ही किसी जाति-विशेष में जन्म लेने की बात मानी जाती थी। यह मान्यता पुरुषार्थ की भावना को शिथिल करने वाली थी और भगवान की कृपा से उद्धार होने की निष्ठा को कमजोर करती थी। रामानुज यह मानते थे कि भगवान सभी मनुष्यों का आह्वान अपनी लीला में भाग लेने के लिए समान रूप से करता है। किसी एक समुदाय का समस्त सामाजिक सम्पर्क से वंचित कर देना किसी पूर्वजन्म के किये हुए पाप से कम नहीं है।

वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार मुख्यतः चार आचार्यों ने किया—रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी तथा निम्बकाचार्य। रामानुज के विचारों का प्रचार स्वामी रामानन्द द्वारा उत्तर भारत में हुआ और विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय का प्रचार दक्षिण में हुआ। वल्लभाचार्य, ज्ञानदेव, नामदेव और त्रिलोचन आदि इस परम्परा से संबंधित हैं। वैष्णव मत के आचार्य रामानुज ने वर्ण-व्यवस्था की श्रृंखलाओं को कुछ ढीला किया। उसी परम्परा को स्वामी रामानन्द ने उससे भी कुछ और अधिक महत्व दिया।

(1) इन आचार्यों ने भक्ति और उपासना के मार्ग मनुष्य मात्र के लिए खोलने का प्रयत्न किया, यद्यपि वे जाति परम्परा को नहीं तोड़ पाये, उन्होंने शूद्रों को भक्ति का अधिकार दिया जो धर्म-ग्रन्थ न पढ़ते हुए भी श्रवण, मनन और सत्संग के द्वारा भक्ति का ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। यद्यपि अडवारों और अलवारों ने अछूत और अन्त्यजों को अपनाया था, तथापि इसकी व्यापकता दक्षिण में **तेंतकलाई वैष्णवों के द्वारा ही हुई थी।**

रामानन्द ने परंपरागत अधिकारी-अनाधिकारी का भेद मिटाकर केवल श्रद्धा और भक्ति को ही अधिकार माना और भक्ति-क्षेत्र में परम्परा और बाह्याडम्बरों को त्यागकर केवल भावपूर्ण समपण प्रपत्ति को ही आवश्यक ठहराते हुए उसके लिए मनुष्य मात्र को अनुमति प्रदान की तथा अलवारों की प्रेम-साधना, दया और सेवा की परम्परा को उत्तर में प्रचलित किया। दार्शनिक चिन्तन में परिवर्तन करना बड़ा कठिन काम था जो स्वामी रामानन्द ने पूरा किया। रामानन्द ने नाम के सभी भेदों से ऊपर उठकर राम नाम का मंत्र दिया। उसी नामस्मरण का प्रचार परवर्ती संतों ने किया।

स्वामी रामानन्द ने किसी सीमा तक संस्कृत को त्यागकर लोकभाषा में प्रचार किया था, जिससे उनके विचार जन-साधारण तक पहुंच गये। रामानुज के श्रीसम्प्रदाय के विरुद्ध रामानन्द ने अपनी स्वतंत्र विचारधारा को अपनाया और विष्णु तथा नारायण के स्थान पर 'राम' को अवतार रूप में स्थापित किया और कर्म-काण्ड, तीर्थ, व्रत आदि की उपेक्षा करके भावभक्ति को ही श्रेष्ठ माना। जाति-बंधन के उन्मूलन से उनका मत लोकप्रिय बन गया। उन्होंने धर्मक्षेत्र में मानव-समानता और भ्रातृभाव सिद्धान्त का पहले से अधिक उदारता के साथ पालन किया। उनका आचार-विचार आध्यात्मिक अहंकार पर नहीं, वरन् आध्यात्मिक मानवता पर आधारित था। पूर्ण-भक्ति, पूर्ण भागवत्-प्रेम, सभी भक्त और संतों में भ्रातृभाव और लोकभाषा की एक नई परम्परा की स्थापना थी। इतना होते हुए भी उन्होंने जाति परम्परा से पूर्ण सम्बन्ध नहीं तोड़ा था और न जातिवाद और वर्णाश्रम धर्म का खण्डन ही किया था। उन्होंने अवतारवाद का समर्थन किया था और एकेश्वरवाद, समानता, सद्भावना और उदारता के भावों का केवल धर्म-क्षेत्र में ही प्रयोग किया था।

## महाराष्ट्र की भक्ति-धारा

महाराष्ट्र में वैष्णव और शैव विचारधाराओं का सम्मेलन हुआ। यहां के प्रमुख संत ज्ञानेश्वर और नामदेव थे। ज्ञानेश्वर पर शैव प्रभाव माना गया है। ज्ञानेश्वरी

शव और वैष्णव भेद-भाव की खाइयां पटने लगीं और एक नई भक्ति-पद्धति का जन्म हुआ, जिसे बारकरी सम्प्रदाय कहते हैं। नामदेव ने विट्ठल सम्प्रदाय की स्थापना की थी और दोनों सम्प्रदायों (शैव और वैष्णव) को पास लाने का प्रयत्न किया था। पण्ढरपुर के मन्दिर में इसी समन्वय के प्रतीक शिव की मूर्ति को विष्णु अपने सिर के ऊपर उठाये हुए दिखाये गये हैं। महाराष्ट्र की भक्ति-धारा की अपनी विशेषताएं हैं। उन्होंने ही पहले-पहल समयानुसार समाज में परिवर्तन स्वीकार किया था। इस भक्ति-आन्दोलन में क्रमश. कर्मकाण्ड के स्थान पर हृदय की पवित्रता तथा प्रेम-भावना पर बल दिया तथा जाति बंधन को शिथिल किया और नाम की महत्ता को स्वीकार किया। इन महाराष्ट्रीय संतों ने रूढ़िवादी पंडितों पर कभी-कभी बड़े तीखे व्यंग्य किये हैं। यद्यपि संत रविदास ने भावुकता में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग नहीं किया परन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से वे इससे सदा सहमत रहे। कबीर ने कभी कभी इस व्यंग्यपूर्ण भाषा का प्रताड़ना के रूप में प्रयोग किया है।

भक्ति के क्षेत्र में हृदय की शुद्धता, भक्ति-भावना और नामस्मरण के महत्व तथा कर्मकाण्ड आदि की उपेक्षास्वरूप विट्ठल सम्प्रदाय में अनेक अछूत वर्ग के व्यक्ति भी दीक्षित हुए थे जो आगे चलकर महान भक्त और संत सिद्ध हुए। ये थे-गोरा कुम्हार, सावता माली, नरहरी सुनार, चोखामेला भंगी (महार), जनाबाई दासी तथा कान्होपात्रा नामक वेश्या पुत्री। जयदेव और नामदेव ने जनता को सजग किया था, नाम और भक्ति की श्रेष्ठता का संदेश दिया था तथा परवर्ती संतों—रामानन्द, कबीर तथा रविदास आदि को प्रेरणा दी थी। संत रविदास ने नामदेव का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया है।

नामदेव से पहले सभी भक्तिधाराओं पर वर्णाश्रम धर्म का प्रभाव था और भक्ति-साधना पुराने धर्म-ग्रन्थों के अनुसार ही होती थी। जिसमें राम-कृष्ण, शिव और शक्ति की प्रतिमा की उपासना पुरानी परम्परा के अनुरूप ही की जाती थी। 13वीं शताब्दी में बिसोबा या विथोबा खेचर ने, जो नामदेव के गुरु थे, भगवान के प्रतीक के रूप में मूर्ति-पूजा का खण्डन किया।

नामदेव ने कहा था, "पत्थर के देवता या उनके पूजने वाले कौन से धोखे में हैं? इस तरह के देवता तुर्कों ने तोड़-तोड़ कर चूर कर डाले और पानी में फेंक दिये, ऐसा सभी को पता है"। उन्होंने कबीर, अप्पार और बसावा की तरह सभी धार्मिक आडम्बर और बाह्याचारों का विरोध किया था। वे एकेश्वर के भक्त थे। उनकी वाणी में

स्पष्ट सूफी-प्रभाव है जो हिन्दू-परम्परा से दूर चला गया है। नामदेव ने महाराष्ट्र में असत्य, आडम्बर और कल्पनाओं का ध्वंस होते देखा था। नामदेव दक्षिण में और कबीर उत्तर में युगदृष्टा थे। नामदेव पर लिंगायतों और सूफियों का प्रभाव निश्चित् था। रामानन्द दक्षिण से पुरातन भक्ति परम्परा को उत्तर में ले आये थे जिसे उन्होंने नये आयाम और दृष्टिकोण दिये थे। परन्तु जातिवादिता और हठधर्मिता पर कुठाराघात कबीर ने ही किया था जिसे रामानन्द ने स्वीकार किया और उन्हें पहले से भी अधिक उदार होने के लिए बाध्य होना पड़ा। इन संतों की प्रताड़ना उदास और दलित हिन्दू-समाज के लिए एक आशा बन गई थी। लोगों ने उनकी कटुता में भी अमृत का अनुभव किया था

नामदेव और कबीर ने जातिवाद पर कुठाराघात करके निर्गुण की एक नई भक्ति-परम्परा की नींव डाली थी, जिससे सभी परवर्ती संत और भक्त प्रभावित हुए थे। यद्यपि निर्गुण और सगुण भक्तिधाराएं साथ-साथ चलती रही थीं, इस परम्परा के संतों ने निर्गुण-सगुण का भेद मिटा दिया था और अद्वैत में भी भक्ति का समावेश कर दिया था। कुछ लोग इन संतों की उपेक्षा इसलिए करते हैं, क्योंकि उन्होंने सगुण-उपासना की अवहेलना की थी और परम्परागत हठधर्मिता पर कुठाराघात किया था।

## रविदास और वैष्णव मत

कहते हैं कि रविदास प्रारम्भ में ठाकुर के पुजारी थे और बाद में वैष्णव बन गये। उनकी वाणी में राम—**राजा राम, हरिकृष्ण, गोबिन्द, नारायण** आदि नामों का प्रयोग इस बात को प्रमाणित करता है कि सम्भवतः वे अवतारवाद को मानते थे, परन्तु ये शब्द केवल **एक ही परमेश्वर परमात्मा की ओर संकेत करते हैं,** क्योंकि हर एक सम्प्रदाय के इष्ट का अलग-अलग नाम है और **वे दूसरे नामों का प्रयोग नहीं करते।** गुरु रविदास ने कभी-कभी बहुत से नाम एक साथ प्रयोग किये हैं, क्योंकि वे किसी सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे। सम्भव है कबीर के सम्पर्क में आने के पश्चात् उन्होंने निर्गुण निराकार को ही आधार मान लिया हो, क्योंकि निर्गुण निराकार की उपासना सगुण-साकार की ही तरह की जाती है, केवल मूर्ति का अभाव रहता है। उन्होंने सहज-सुन्न का कई बार नाम लिया है जो केवल निराकार की ही आराधना है।

**हरिजपत तेऊ जनां पदम कवलासपति।**

रविदास भगवान के एकत्व पर विश्वास करते थे, इसलिए उन्होंने कभी-कभी सभी नाम इकट्ठे कर दिये और सभी गुणों का समावेश एक ही परमात्मा में कर दिया।

**निश्चल निराकार अज अनुपम निरभय गति गोबिन्द,**

**निरंजन निराकार निरलैपी। आदि**

उन्होंने कहा था कि जो भी भगवान का भजन करते हैं उनकी विष्णु और शिव भी बराबरी नहीं कर सकते। **उनकी भावना वैष्णव थी और** उनका भगवान अन्तर्यामी था। कबीर ने भी इसी प्रकार का भाव दिखाया है :—

**राम बड़ा कि रामहि जाने**

**वेद बड़ा कि जिन उपाया।**

यह उनकी आत्मलीनता की परिकाष्टा थी और फक्कड़पन था। रविदास साकार विष्णु या शिव के उपासक नहीं थे। उनके विष्णु (व्यापक) राम के रूप में निर्गुण और निराकार थे। रविदास की रचना दूसरे वैष्णव भक्तों की तरह लोक-भाषा में थी। उन्होंने तीर्थ, व्रत, सन्यास, वनवास, जातपात आदि बाह्याचारों को निरर्थक बताया और मूर्ति-पूजा तथा वेद-वेदांत की प्रमाणिकता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इन सभी उपचारों को पाखण्ड बताया। वे तो केवल नामस्मरण को ही सत्य मानते थे।

**राम नाम बिन जो कुछ कहियें-सो भव भ्रम कहाई।**

वैष्णव संतों ने गुरु परम्परा पर बहुत जोर दिया। उनके यहां गुरु को मनुष्य न समझा जाकर भगवान की वाणी समझा जाता है। गुरु अध्यात्म की चिंगारी जलाने वाला और रास्ता बताने वाला है और अपने उद्देश्य पर पहुंचाने वाला है, वह भगवान के मिलन की सबसे बड़ी कड़ी है। रविदास भी गुरु-परंपरा पर विश्वास रखते थे। उस समय कोई भी ऐसा संत नहीं था, जिसका कोई साक्षात गुरु न हो। फिर भी उन्होंने किसी सम्प्रदाय का सहारा नहीं लिया और वे स्वयं एक सम्प्रदाय बन गए। उनके विचार स्वतंत्र थे और संतों में अपनी विशेषता रखते थे:—

**पाय पारस गुरु भेटिये, पूरब लिखत ललाट।**

**उनमन मन, मन हो मिले, छुट कर बजर कपाट॥**

# बौद्ध मत से नाथ सम्प्रदाय तक

लगभग 450 ई० पूर्व ब्राह्मण मत के कर्मकाण्ड, जीव-हिंसा और जातिवाद या वर्ण-व्यवस्था के विकल्प में बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था। महात्मा बुद्ध का जन्म 622 ई० पूर्व माना गया है। उन्होंने घोषित किया था कि ईश्वर या संसार का कर्ता जसी कोई चीज नहीं है। उन्होंने आत्मा को शाश्वत् या परिवर्तनहीन सत्ता मानने का विरोध किया था। उनके अनुसार वस्तु का यथार्थ अस्तित्व नहीं है, जो कुछ दिखाई देता है व केवल घटनाएं मात्र हैं, सर्वत्र कार्य-कारण का ही नियम चलता है, जगत की उत्पत्ति बिना किसी ज्ञात प्रारम्भ के है। समस्त अस्तित्व निरन्तर धारा है जो तत्वों से उत्पन्न होती है। इसलिए वे जगत को क्षणिक स्फुरणों की एक श्रृंखला मात्र मानते हैं।

बुद्ध का मार्ग नैतिक मार्ग है, जिसमें जीवन का मुख्य उद्देश्य प्राणिमात्र का दुःख-निवारण है। इसीलिए उन्होंने नैतिक जीवन का ही आदर्श रखा था। वे मोक्ष को ईश्वरीय ज्ञान या भागवत कृपा पर निर्भर नहीं मानते। वे सदाचार के द्वारा ही अमरत्व की प्राप्ति होना निश्चित मानते हैं। बुद्ध भगवान के निर्वाण के पश्चात् बौद्ध-धर्म हीनयान और महायान दो धाराओं में बंट गया। हीनयान में सन्यासियों और विरक्तों की प्रधानता थी। महायान वाले ऊंचे-नीचे, छोटे-बड़े सभी को निर्वाण की प्रेरणा देते थे। महायान ने ही बौद्ध धर्म को जनसाधारण तक पहुंचाया और सार्वजनिक भलाई का प्रयत्न किया।

बौद्ध-धर्म का चिन्तन-पक्ष हीनयान में सुरक्षित है। महायान उसके व्यावहारिक पक्ष का समर्थन और उसको समृद्ध करता रहा है। महायान ने बुद्ध को देवत्व प्रदान कर बोधिसत्व बना दिया। उनके अनुयायी बुद्ध के उपदेशों को आलौकिक और असाधारण समझते हैं। बुद्ध के उपदेशों को सुविधा के लिए छोटे-छोटे सूत्रों में बांटा गया था। महायान का उप-संप्रदाय मंत्रों को महत्व देने के कारण मन्त्रयान कहा गया। मंत्रों द्वारा सिद्धि पाने का मार्ग बतलाने वाले साधक सिद्ध कहलाने लगे और महायान की सरल साधना मंत्रयान में परिवर्तित हो गई। ये साधक मंत्रों के साथ-साथ मुद्रा और मैथुन की भोग-परक साधना में लग गये। आगे भैरवी चक्र की स्थापना करके इन साधकों ने सदाचार को त्याग दिया इस प्रकार मंत्रयान बज्रयान में परिवर्तित हो गया जो सन् 800 ई० से 1175 ई० तक विकसित होता रहा। इन बज्रयानी साधकों में ही चौरासी सिद्धों की गणना की जाती है।

महायान मत का शून्य बज्रयानियों में बज्र के रूप में विकसित हुआ। तंत्रों में बज्र की महिमा का गान किया गया है। बज्रयान साधकों में देवी-देवताओं की स्थापना (मूर्ति पर ध्यान) को महत्व प्रदान किया गया है तथा साधना पद्धति में हठयोग को भी स्थान दिया गया है। इसमें मांस, मदिरा और स्त्री-साधना के आवश्यक अंग माने जाने लगे। बज्रयान के पाखण्ड को देखकर ही सरहपा सिद्ध ने सहजभाव का प्रचार किया। महासुख पूर्णानन्द और समरस की दशा का एक नाम 'सहज' था।

उन्होंने सहज या नैसिगक जीवन पर बल दिया और कहा कि ऋद्धि-सिद्धि के लोभ को छोड़कर सहज भावना ही लाभदायक है। सहज को अमृत-रस की प्राप्ति की स्थिति कहा गया है। जिसे यह प्राप्त हो गया वह परम ज्ञानी हो गया। यह गुप्त तथा रहस्य है। इसकी साधना सर्वोत्तम है। जो अपने मन को शान्त, निश्चल और समरस कर देता है, वही सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है।

गुरु रविदास की वाणी पर बौद्ध धर्म और उनके परवर्ती सम्प्रदायों का प्रभाव था। अब तक बौद्ध विचारों को हिन्दू समाज ने आत्मसात कर लिया था। बौद्धों की मान्यताओं के दर्शन सभी संतों की वाणियों में दिखाई देते हैं। बौद्ध धर्म में वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया गया है। गुरु रविदास ने भक्ति द्वारा साम्यता का प्रयत्न किया है :

**ब्रह्मन बैस सूद अरू ख्यत्री डौम चमार मलेछ मन सोई**
**होई पुनीत भगवत भजन तैं, आपु तारि तारै कुल दोई ॥**

गुरु रविदास सहजयान मत के शून्यवाद से प्रभावित दिखाई देते हैं। उनके मत में शन्य स्वाभाविक प्रज्ञा की अवस्था है, परन्तु वे बौद्धों की अनीश्वरवाद और अनात्म को स्वीकार नहीं करते। बौद्ध-बज्रयान-सम्प्रदाय को कोई भी संत स्वीकार नहीं करता। गुरु रविदास ने सहज भावना को स्वीकार किया है :

**तोडूं न पाती पूंजू न देवा,**
**सहज समाधि करूं हरि सेवा।**
**जहां का उपजा तहां समाय,**
**सहज सुन्न में रह्यो लुकाय ॥**

बौद्धों की चिन्तन-धारा सनातन चिन्तन धारा में समाहित हो चली थी। जिसका परवर्ती सम्प्रदायों पर प्रभाव पड़ा। मध्यकालीन संतों ने उनके भाव पूर्णतया ग्रहण

कर लिये, परन्तु ये विचार सीधे बौद्ध धर्म से नहीं लिये गये थे। बौद्ध सम्प्रदायों का सम्मिश्रण तंत्रवाद से होने के कारण सिद्धों के बहुत से सम्प्रदाय विकसित हुए। सिद्धों में गतानुगतिकता या परम्परागत भेड़चाल का बड़ा विरोध था। इनका लक्ष्य महासुख (निर्वाण) की प्राप्ति था। ये तंत्र-परक साधना में विश्वास करते थे। तंत्र की अन्तर्मुखी साधना और महासुख की अनिर्वचनीयता के कारण अपनी अभिव्यक्ति प्रतीकों के द्वारा करते थे। संतों ने भेड़चाल और परम्परा-विरोधी प्रेरणा इन्हीं से ली थी, उन्होंने रहस्य की अभिव्यक्ति भी प्रतीकों के द्वारा ही की है। "सिंहों के लैंहड़े नहीं ··· संत न चलत बरात"—कबीर। संतों के सहज योग तथा सुरति-निरति की भावना भी सिद्धों की देन है। संतों की उलटबांसी अभिव्यक्ति भी सिद्धों की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति की देन है। इन उक्तियों के लिए गहन विचार, भाषा और बुद्धि की प्रबलता की आवश्यकता है। बौद्धों की महायान शाखा में तंत्र और शैव सिद्धान्तों के सम्मिश्रण से ही मंत्रयान, बज्रयान और फिर सहजयान का विकास हुआ था। इन सम्प्रदायों की गुह्यता और प्रतीकवाद के कारण एक प्रकार की विकृत पद्धतियों का विकास हुआ और उनकी प्रतिक्रिया रूप में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ। कुछ लोग इसे पुरातन शैवतंत्रवाद का विकसित रूप मानते हैं। वास्तव में यह सहजयान और वज्रयान का ही विकसित रूप था। नाथ पंथ के आदिकालीन आचार्यों में गुरु मत्स्येन्द्र नाथ (मछन्दर नाथ) और गुरु गोरखनाथ प्रमुख थे। मछन्दरनाथ ने योग के साथ-साथ मानसिक साधना (उनमनि) पर विशेष बल दिया था। मछन्दरनाथ की उस साधना में स्वेच्छाचारिता का अवगुण होने के कारण गोरखनाथ ने उसमें हठ योग, कठोर शारीरिक पवित्रता और साधना पर विशेष बल दिया था। शारीरिक और मानसिक पवित्रता या सदाचार की भावना संतों के विचारों में भरी पड़ी है। गुरु गोरखनाथ ने विकृत गुह्य साधनाओं का विरोध किया और योग की प्रतिष्ठा की। उन्होंने भेद तथा विषमता मूलक मान्यताओं को ठुकराया और बाह्याचारों को हटाकर इन्द्रिय-संयम और मन के शोधन तथा भोग-विलास का विरोध करके सम्यक् आचरण का महत्व बताया तथा ईश्वरवाद की एक निश्चित् रूपरेखा प्रस्तुत की। आध्यात्मिक अनुभूति के लिए सहज साधना का प्रयोग पहले उन्होंने ही किया।

संत रविदास और दूसरे समकालीन संतों पर नाथ सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म में आस्था प्रकट की थी। नाथों के चारित्रिक उत्कर्ष और पवित्रता के आग्रह की झलक रविदास वाणी में मिलती है। नाथों की साधना-पद्धति को संतों ने स्वीकार नहीं किया। भक्ति द्वारा सहज-साधन ही तो संतों की एक विशेषता थी।

इस प्रकार बौद्ध धर्म की महाकरुणा या जीव-मात्र के प्रति दया (अहिंसा नहीं) सदाचार शून्यवाद, रहस्यवाद, उलटबासी, मानसिक-योग की शब्दावली और शारीरिक-सदाचार एवं पवित्रता सभी का प्रभाव संतों पर था। यहां तक कि परम्परा, भेड़-चाल और कर्म-काण्ड के विरोध की निर्भीकता की आधारशिला भी उन्हें इसी प्रभाव से मिली।

## सूफी प्रभाव

सूफी मत में पीर (गुरु) का बड़ा महत्व है। बन्दे (जीव) को हक (परमात्मा) से मिलने में शैतान जब बाधा डाल देता है, तो पीर ही सहायक होता है। पीर की अद्भुत शक्ति और उसकी आवश्यकता की भावना से लगभग सभी संत प्रभावित हैं। संतमत में शैतान के स्थान पर मिथ्या माया को बाधक माना गया है। उसी ठगिनी माया से बचने के लिये गुरु और सत्संग का सहारा लिया जाता है।

सूफियों में मानवतावादी विचारों की प्रधानता थी। वे कहते थे कि मनुष्य से प्रेम करना परमात्मा से प्रेम करना है। उन्होंने दूसरे मतों के सिद्धान्तों का आदर किया। शेख हमीदुद्दीन नागरी ऐसा सूफी था, जिसने अहिंसा का प्रचार किया और मांस खाना बन्द कर दिया। सूफियों ने हिन्दुओं के कितने ही रीति-रिवाज अपना लिए थे। विचार-वैषम्य होते हुए भी दोनों वर्ग एक-दूसरे के निकट आते गये। भावनात्मक एकता में सूफियों का बड़ा हाथ है। हिन्दू-मुसलमानों के विचारों में सम्पर्क पहले से ही चला आ रहा था। इस्लाम ने अपने उत्थान के समय जो विचार हिन्दू-दर्शन से ग्रहण किये उसी के सम्मिश्रण से सूफी-मत की भूमिका तैयार हुई थी। ये ही विचार नई चेतना लेकर भारत में फिर से पनपने लगे। नये भक्ति-आन्दोलन को नव-जीवन और प्रोत्साहन इन्हीं से मिला। भक्ति में रहस्य की एक विशेषता है। हिन्दू रहस्यवाद संहिताकाल से ही प्रारम्भ होता है परन्तु नये भक्ति आन्दोलन में परमात्मा से अटूट प्रेम और मिलन की उत्कट इच्छा एक नई बात थी। दक्षिण की भक्ति-भावना सूफी विचारों के अधिक निकट थी। गीता और भागवत् पुराण की भक्तिधारा परम्परा पर आधारित है। गीता में वर्णाश्रम-धर्म का समर्थन है और भ्रातृभाव और मानव समानता पर वह जोर नहीं दिया जो संतों ने दिया है। एकेश्वर के भाव में भी भिन्नता है। भागवत् पुराण में वैदिक कर्म-काण्ड का खण्डन किया है, परन्तु उसका पूर्ण विरोध नहीं किया। भागवत् पुराण ने ज्ञान, कर्म और योग की भक्ति में मान्यता का समर्थन नहीं किया। इस प्रकार दक्षिण का भक्ति आन्दोलन पुराने भक्तिभाव से बहुत कुछ

भिन्न था, यद्यपि उसके मूल विचार हिन्दुत्व से लिये गये थे। इसमें नये एकेश्वरवाद, आत्मसमर्पण, भगवत्कृपा और नामस्मरण के साथ-साथ मानव मात्र की समानता, भ्रातृभाव आदि विचारों को महत्ता दी गई है। इसमें जाति-पांति बाह्याडम्बर और मूर्ति पूजा का धीरे-धीरे विरोध होता चला गया और अन्ततः मध्ययुगीन भक्तिकाल में निर्गुण-निराकार भक्ति-धारा में बदल गया। इन सभी विचारों पर सूफी विचारधारा का प्रभाव है, यद्यपि मूल भक्ति-साधना भारतीय है। इसमें इस्लाम की मौलिक विचार-धारा का भी प्रभाव चला आ रहा है। इस्लाम के भाई-चारे और बराबरी के सिद्धान्तों ने हिन्दू-शिल्पकारों और दलित-वर्ग को स्वतंत्रता का संदेश दिया। परन्तु सूफियों का प्रेम-संदेश बहुत ही ग्राह्य था जो पुरातन हिन्दू-दर्शन और वेदान्त के निकट था, परन्तु एक नई चेतना लेकर आया था।

इसी प्रभाव के कारण इस समय के संत और भक्त यह मानते थे कि भगवान की भक्ति के लिए किसी क्रिया-कर्म की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं विचारों ने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने की अगुवाई की थी, जिसका श्रेय निश्चय ही मध्यकालीन संतों को है। इसके साथ-साथ दोनों धर्मों के संतों ने एक दूसरे के विचारों और मान्यताओं को अपनाने का भी प्रयत्न किया, जिसके लिए उन्हें धर्म के कुछ मूल सिद्धान्तों को भी ठुकराना पड़ा। ये संत या भक्त हिन्दू या मुसलमान नहीं थे—केवल ईश्वर या अल्लाह के उपासक थे। उनके लिए मानव-मानव में भेद का कोई अर्थ नहीं था। उनका धर्म केवल भक्ति था। धार्मिक मान्यताओं से उन्हें कोई लगाव नहीं था। शुद्ध-हृदय और आत्मसमर्पण के सिवाय उन्हें किसी चीज की आवश्यकता नहीं थी। उनका धर्म, प्रेम और सेवा पर आधारित था। धर्म का झगड़ा असहिष्णुता, दुराग्रह और पक्षपात के कारण होता है। इन संतों ने कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बर छोड़कर आध्यात्मिकता पर जोर दिया, जो धर्मों में भेद डालते हैं। परमात्मा ने केवल एक ही मानव जाति बनाई है उसमें कोई मूल भेद नहीं रखा; परमात्मा भी सभी के लिए एक है। उनका नारा था—एक मानवता और एक बिरादरी। इसी कारण उन्होंने जातिवाद का बहिष्कार किया। भक्तों ने सूफियों की तरह जन-भाषा का सहारा लिया जिसस ज्ञान का स्रोत सभी तक पहुंच सके। सूफी, बौद्ध-सहजयानी और भक्त सभी की वाणी में एक प्रकार का साम्य है, जिसमें परस्पर प्रभाव प्रतीत होता है। इसी प्रकार सूफीमत का संतमत और भक्ति-धारा पर भी एक विशेष प्रभाव दिखाई देता है।

# गुरु रविदास और सूफी मत

भगवत्-इच्छा और आत्मसमर्पण के साथ शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही सूफी-सिद्धान्त है, क्योंकि इस संसार में सभी घटनाएं ईश्वरेच्छा पर आधारित हैं। सूफी वही है जो निरन्तर ईश्वरमय रहे और उसके बन्दों अथवा मानव मात्र के साथ सद्व्यवहार के साथ जीवन व्यतीत करे। आत्म-अनुभव या आत्मा में परमात्मा के दर्शन भी सूफी रहस्य है; यही भगवत-भक्ति की पराकाष्ठा है। सूफी मत के अनुसार यह सृष्टि भगवान की सहज अभिव्यक्ति है, जिसमें वह अपनी उपस्थिति और लीला का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार हक और खलक, ब्रह्म और सृष्टि एक हो जाते हैं, जिसका अर्थ हुआ कि भगवान एक में अनेक और अनेक में एक है जो समस्त दृश्यमान जगत के लिए एक ही सत्य है। गुरु रविदास का सिद्धांन्त भी उससे कुछ-कुछ मिलता-जुलता है :

**बाहर खोजत का फिरें, घट भीतर ही खोज**
**रविदास उनमान साध कर, देखो पिया को आज ॥**

कबीर साहब ने भी कहा है :

**कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूंढें बन माँहि**
**ऐसे घट में पीव है दुनिया जानत नाँहि ॥**

मनुष्य बाह्य जगत में, मंदिर-मस्जिद में, तीर्थ और काबे में ईश्वर खोजता फिरता है; पर वह तो अन्दर ही मिलेगा जैसा कि सूफी जलालुद्दीन ने कहा है, "परमात्मा का स्थान हृदय है"। 'जो प्रेम का उद्गम स्थान है'। केवल उसका ध्यान करना ही पर्याप्त है। सूफी अबुसइद ने कहा था "कि हज़ आदि करना व्यर्थ है; 'मेरे अन्दर ही अनोखी हज़ हो रही है'।"

सूफियों के अनुसार संसार का कर्ता एक है, जिसकी ज्योति हर चीज में विद्यमान है, क्योंकि वह ज्योतिस्वरूप है। कबीर ने उसे "ज्योति सरूपी हाकिया" कहा है जो भक्त को नित्य जगाता रहता है।

**रविदास जो करता सृष्टि का वह तो कर्ता एक,**
**सभ में जोत सरूप इक-काहे कहूं अनेक—**

यह विचार सूफी सर्वात्मवाद के निकट है। सूफी कहते हैं कि मस्जिद जो संतों के हृदय में बनी है वही सच्चा देवालय है, क्योंकि वहां पर भगवान रहता है। अगर कोई परमात्मा से तदात्मय चाहता है तो उसे परमात्मा के बन्दों (मानव) से भी समझौता करना पड़ेगा, क्योंकि यह संसार भगवान की ही अभिव्यक्ति है जिसमें वह स्वयं विद्यमान रहता है। भगवान अपनी सृष्टि के द्वारा ही प्रकट होता है। तुम उसे जंगल और वनों में ढूंढ़ते फिरते हो। अगर उसे ढूंढ़ना ही है तो उसकी स्र्वोत्तम कृति उसके बन्दों (मानव) को प्रेम करो। यह भाव वैष्णव सम्प्रदाय ने ग्रहण किया जो हिन्दू चिन्तनधारा में एक नितान्त नये विचार का समावेश था।

रविदास जी भी कहते हैं :

**बन खोजो पी ना मिलै बन में प्रीतम नांहि**
**रविदास पी हम बसै, रहियो मानव प्रेमी मांहि ॥**

सूफी मत का मूल प्रेम है, आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध प्रेमी और प्रेमिका का है। यह सूफी विचार इस्लाम के सिद्धांत के विरुद्ध है। इस्लाम में परमात्मा पूजनीय है जो माशूक (प्रेमिका) नहीं हो सकता। रविदास जी ने बहुत बार भगवान के लिए प्रीतम और प्रिया प्रयुक्त किया है।

संत रविदास ने अजपाजप और सोहम् का भी संकेत किया है। सोहम् लगभग अनल-हक के निकट है। यह अन्तर्यामी परमात्मा का आह्वान है। यही निर्गुण भक्ति का सार है। यही नाम आगे जाकर ध्यान में बदल जाता है, जिसे अजपाजप कहते हैं।

**रविदास आराधों दैव कू-उनमन होय धर ध्यान**
**अजपाजाप जपत रहियें-सत् नाम सत् नाम ॥**

सूफी साधक हर जगह, हर वस्तु में चारों ओर भगवान का ही दर्शन करत हैं। उनके अनुसार भगवान के सिवाय कुछ नहीं, उसके सिवाय किसी की सत्ता नहीं है। रविदास की वाणी में भी यह भाव है। वे कहते हैं कि तू दीपक और मैं बाती हूं; तुझ में और मुझ में कोई भेद नहीं है:—

**'जो तुम दीवरा तो हम बाती'**
**'तौही मौही-मौही तौही अंत कैसा—**
**कनक कटिक जल तरंग जैसा,'**[3]

सूफी मत अंहकार की भावना के विरुद्ध है जो अंह को मई (मैं-ममत्व) कहता है । सूफी हफीज कहता है कि मनुष्य का अपने अहं की ओर ध्यान सबसे बड़ा अवगुण है जो भगवान और भक्त के बीच में खाई है । संत रविदास जी ने भी इसके बारे में अनेक बार कहा है कि जब तक अहं नहीं मरता, हृदय में नाम की स्थापना नहीं हो सकती; मैं और नाम साथ नहीं रह सकते :

**जब हम होते, तब तू नाहीं ।**

ऐसे ही इश्क (प्रेम) की मदिरा के प्याले के बदले में सिर का बलिदान सूफी प्रभाव का सबसे बड़ा प्रमाण है :

**कहै कलाली प्याला देऊं–पीवन हारे का सिर लेऊं ।**

सूफी मत में इश्के मिजाजी का इश्के हकीकी में परिवर्तन किया जाता है । रविदास भी परमात्मा से कुछ इसी प्रकार की प्रीति का प्रदर्शन करते हैं :

**तू मोही दख हों तोही देखूं, प्रीति परस्पर होई ।**

व सूफियों की तरह, भक्ति को परमात्मा की देन समझते थ – 'भाग बड़े सो पावै' । आपा मिट जाने पर भी भक्ति प्रभु-कृपा से ही मिलती है । वे सूफियों के समान ही हर वस्तु में परमात्मा ही देखते हैं :

**थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रहयौ हरिराई ।**
**एकमेक कहै रैदास ।**

इस प्रकरण में यह कहना आवश्यक है कि कुछ सम्मानित विद्वान भारतीय भक्ति परम्परा पर सूफी या इस्लामी प्रभाव को मानने को तैयार नहीं हैं । संत-साहित्य के मर्मज्ञ श्री वियोगी हरि का विचार है कि भक्ति पर इस्लाम के प्रभाव का प्रतिवाद न करने वाल डा० तारा चंद[1] ही थे जो उन्हें अमान्य है । हमने यहां सूफी प्रभाव को माना है, जिसमें भक्ति के मूल तत्वों को जो भारतीय उद्गम के थे, सूफियों और इस्लाम ने एक नई दिशा दी थी ।

1. डा० तारा चन्द : 'दी इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडियन कलचर ।'

अध्याय–5

# संत रविदास का जीवन-वृत्त

## जन्म–तिथि

संत रविदास की जन्म-तिथि विवादास्पद है । उनका जन्म-दिवस माघ-पूर्णिमा मान लेने में किसी को भी आपत्ति नहीं है, केवल वर्ष निर्धारित करने में कुछ कठिनाइयां हैं । उनकी वाणियों से उसका कोई परिचय नहीं मिलता । विद्वानों ने अंत: और बाह्य साक्ष्य पर आधारित कुछ परिणाम निकाले हैं । परन्तु, यह निर्णय दो तथ्यों के बीच में स्थित हैं, एक तो यह कि वे स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और दूसरा यह कि मीराबाई उनकी शिष्या थीं। **स्वामी रामानन्द का जीवनकाल अधिकतर विद्वानों ने 1299 से 1448 तक माना है। मीराबाई का जीवनकाल 1502 से 1546** तक माना गया है । विद्वानों ने तिथियों को इन दो धुरियों के बीच में ही ऊपर नीचे किया है । परन्तु अंतिम निर्णय के लिए उन्होंने समकालीन संतों की जन्म तिथियों को ही आधार माना है, जिसमें पीपा, धन्ना और कबीर की प्रमुखता है । कुछ लोगों को स्वामी रामानन्द की यह तिथि भी मान्य नहीं है, क्योंकि इसका आधार केवल **1585 में लिखा संत नाभादास का 'भक्त माल'** ही है, जिसकी टीका प्रियदास ने 1655 में लिखी थी । इन दोनों ग्रंथों में वैष्णव-संप्रदाय के लगभग सभी संतों को श्रद्धावत, स्वामी रामानन्द का शिष्य घोषित कर दिया है । परन्तु, हमारे पास **इसके सिवाय और कोई प्रमाणित पुरातन ग्रंथ नहीं है ।**

रविदास संप्रदाय वाले परंपरानुगत गुरु रविदास का काल 1376 से 1527 तक मानते हैं और उसके समर्थन में एक साखी का सहारा लेते हैं जिसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण दिखाई नहीं देता । इस मान्यता के अनुसार उनकी आयु लगभग 151 वर्ष बन जाती है जिसे विद्वानों ने असंभव कहा है । इस प्रकार विद्वानों ने इन तिथियों में कुछ जोड़-घटाकर अपनी-अपनी विचार-धाराओं का समर्थन किया है । डा० योगेन्द्र सिंह उन्हें मीरा का गुरु मानने को तैयार हैं,

परन्तु स्वामी रामानन्द को उनका गुरु नहीं मानते। उनके अनुसार रामानन्द की शिष्य-परंपरा में कोई और संत उनका गुरु हो सकता है क्योंकि, एक बार उनकी वाणी में परमानन्द का नाम आया है। डा० गुरचरण पदम उन्हें मीरा का गुरु मानने को तैयार नहीं। डा० पदम ने तो यहां तक कह दिया कि मीरा का गुरु रैदास संत रविदास से भिन्न कोई और व्यक्ति हो सकता है जो रैदास पंथ का कोई अन्य संत रहा होगा। परन्तु, इस बात से सभी विद्वान सहमत हैं कि **रविदास कबीर साहब के सम-कालीन थे।** कुछ लोगों ने उन्हें कबीर से आयु में अधिक प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। यहां तक कि उनके जीवन काल की तिथियों और निर्वाण-स्थान को भी गड़बड़ कर डाला है। इसका कारण इस पुस्तक का विषय नहीं है। हां, हम इन दो तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते कि वे स्वामी रामानन्द के शिष्य और मीरा के गुरु थे। ये दोनों तथ्य परंपरा से चले आये हैं और इनकी उपेक्षा करने से उनक जीवनवृत्त का आधार ही टूट जाता है'।

रविदास की अपनी वाणी में ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलते हैं जिनमें, उन्होंने स्वामी रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार किया हो। डा० वेणीप्रसाद शर्मा ने परि-श्रम करके कुछ पद संग्रहित किये हैं; संभव है उनको प्रमाणित करने में विद्वानों को कुछ समय लगे। इस विषय में निम्न साखी प्रचलित है। उसकी भी यही अवस्था है।

**रामानन्द मोहि गुरू मिल्यो पायो ब्रह्म विसास।**
**राम नाम अमी रस पीओ रैदास ही भयो पलास॥**

गुरु रविदास के स्वामी रामानन्द के शिष्य होने का प्रमाण केवल **भक्तमाल** में ही मिलता है। कुछ लोगों ने **इस ग्रंथ को सांप्रदायिक ग्रंथ कहा** है। इसमें कोई संदेह नहीं कि **यह ग्रंथ वैष्णव संप्रदाय को सगुण शाखा के अनुयायियों का लिखा** हुआ है और उसमें कबीर, रविदास आदि को भी अपने संप्रदाय में सम्मिलित किया है, क्योंकि वे स्वामी रामानन्द के शिष्य थे; परन्तु हमारे पास इससे पुराना कोई प्रमाण नहीं है।

स्वामी रामानन्द के काल-निर्धारण में भी कुछ बाधाएं हैं। परन्तु भक्तमाल की तिथियों से बहुत से विद्वान सहमत हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने इसका समर्थन किया है और उन्होंने स्वामी रामानन्द की दीर्घायु को ठीक कहा है।

स्वामी रामानन्द ने लगभग 1400 में काशी में प्रचार प्रारंभ किया था और कबीर के 1427 के लगभग दीक्षा लेने की संभावना है। उसी समय स्वामी रामानन्द फिर से काशी आये थे। कबीर की अपनी वाणियों में कुछ ऐसे उद्‌गार मिलते हैं, जिनमें यह प्रमाणित होता है कि उन्होंने अपने जीवन के पहले 30 वर्ष बिना भक्ति के व्यर्थ कर दिये और उसके पश्चात् उन्हें गुरु कृपा से मुक्ति का द्वार मिला। कबीर साहब का जीवनकाल 1398 से 1518 तक माना गया है। डा० रामकुमार वर्मा उनकी जन्मतिथि सोमवार जून 25, 1397 मानते हैं। कबीर ने रामानन्द को उनका गुरु बनने के लिए बाध्य किया था, जिसके लिए वे सहमत नहीं थे। परन्तु शिष्य बनाने के पश्चात स्वामी रामानन्द कबीर से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सभी वर्गों के लोगों को दीक्षा देने का विचार कर लिया। उसी समय रविदास आदि ने भी स्वामी रामानन्द को गुरु स्वीकार किया।

स्वामी रामानन्द के देहान्त के पश्चात् उनके शिष्य कबीर की धाक थी। उन्हें सभी संत गुरुवत् और ज्ञानवृद्ध मानते थे, आयु वृद्ध तो वे थे ही। भक्त पीपा, जिनका जन्म मेकाविफ ने 1425 माना है और जिनका नाम भी कबीर और रविदास के साथ भक्तमाल में आया है, अपनी वाणी में कबीर की प्रशंसा करते हैं, जिससे यह मालूम होता है कि कबीर उनसे पहले हो चुके थे और सतलोक को प्राप्त कर चुके थे। पीपा कबीर से प्रभावित थे। सेन भक्त ने 'कबीर अरु रविदास संवाद' नामक ग्रंथ की रचना 1445 में की थी, जिसमें उन्होंने कबीर और रविदास पर वाद-विवाद दिया है। इस प्रसंग में रविदास ने कबीर को गुरु माना है और उनके सिद्धान्त का समर्थन किया है। संभव है इस घटना के पश्चात ही गुरु रविदास का निर्गुण-निराकार-उपासना की ओर झुकाव हुआ हो। इस वार्ता में इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि दोनों संतों में बहुत प्रेम था और गुरु रविदास उन्हें गुरु समान बड़ा भाई मानते थे और समय-समय पर उनसे परामर्श लेते थे। संतों का एक दूसरे के प्रति सत्कार प्रसिद्ध था। अनन्तदास ने अपनी 'परिच' में लिखा है :

**तब रैदास बिचारी बाता गुरु समान कबीर बड़ भ्राता।**

संभव है इस समय तक स्वामी रामानन्द का निधन हो चुका हो और कबीर ही उनके शिष्यों में आयुवृद्ध होने के कारण दूसरे संतों द्वारा गुरुवत् सम्मानित किये जाते रहे हों। कबीर ने अपनी वाणी में रविदास की प्रशंसा की है। एतत्संबंधी साखी

को लेकर कुछ लोग यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि रविदास कबीर से आयु में बड़े थे, परन्तु इससे इतना ही सिद्ध होता है कि दोनों संत कुछ समय तक समकालीन थे ।

संत रविदास ने कबीर साहब का बड़े सम्मान के साथ नाम लिया है ।

**(क) हरि के नाम कबीर उजागर जन्म-जन्म के काटे कागर ।**
**(ख) तिहुंरै लोक परसिद्ध कबीरा ।**

निम्न पंक्तियों से यह भी सिद्ध होता है कि कबीर का परिनिर्वाण रविदास से पहले ही हो चुका था ।

**(ग) नामदेव कबीर सदना सैन तरे**
**(घ) निर्गुण का गुण देखो आई, देह सहित कबीर सिधाई ।**

अंतिम पंक्ति से यह प्रमाणित होता है कि कबीर के मगहर में निर्वाण से रविदास को बड़ा दु:ख हुआ था । मेकाविफ ने भी लिखा है कि कबीर रविदास से बड़े थे । डा० योगेन्द्र सिंह ने इसका समर्थन किया है । इससे यह निर्णय निकलता है कि रविदास और कबीर की जन्म तिथियों में बहुत कम अंतर था और इस प्रकार बहुत से विद्वानों ने संत रविदास की जन्म तिथि 1399 मानी है, जिससे उनका स्वामी रामानन्द का शिष्य होना भी प्रमाणित हो सकता है और कबीर का समकालीन भी । डा० गोबिन्द त्रिगुणायत और श्री रामचरण कुरील उनकी जन्म तिथि 1411 मानते हैं ।

मीराबाई ने अपने बहुत से पदों में रैदास को अपना गुरु माना है । हमारे विचार से रैदास और रविदास में कोई भेद नहीं है । । संत रविदास ही मीरा के गु थे ।

मीरा का काल 1502 से 1546 तक माना गया है । मीरा ने 1527 में काशी का भ्रमण किया था और उसी वर्ष संत रविदास का चित्तौड़ में निर्वाण हुआ । संभव है वे मीरा के निमंत्रण पर ही चित्तौड़ गये हों और वहीं उनका शरीरांत हुआ हो ।

## परिनिर्वाण

संत रविदास लगभग 120 वर्ष की दीर्घायु व्यतीत करके ब्रह्मलीन हुए थे । उनकी दीर्घायु के विषय में डा० रामकुमार वर्मा भी सहमत हैं । आचार्य पृथ्वी सिंह

आजाद उनका परिनिर्वाण चित्तौड़गढ़ में 1527 (स० 1584) में मानते हैं। कुछ लोग उनका निर्वाण 1540 में मानते हैं। कुछ लेखकों ने उनके निर्वाण का स्थान गंगा तट, काशी और मगहर आदि माना है, जिसका कोई प्रमाण नहीं है। हमारे विचार से उनका शरीरांत 1527 में चित्तौड़गढ़ में हुआ था।

रविदास अपनी भक्ति और सिद्धि के कारण बहुत ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनकी ख्याति सुनकर दूर-दूर से लोग उनके दर्शनार्थ और दीक्षा के लिए आते रहे थे। कबीर का शरीरांत हो चुका था। बहुत आध्यात्मिक निकटता के कारण उनको कबीर के सतलोक सिधारने पर दुःख हुआ था, क्योंकि वे जीवन के अंतिम चरण में कबीर की निर्गुण-निराकार भक्ति से प्रभावित हो चुके थे। वे भी बहुत वृद्ध हो चुके थे और बाह्याचार और परंपरागत पूजा अर्चना आदि से उनकी रुचि उठ चुकी थी।

**अब मैं हारयौ रे भाई**
**हलन-चलन तैं देह थकित भइ लोकन बेद बड़ाई**
**थकित भयो नाचन अरू गावन तैं, थाकी पूजा सेवा।**

इसी समय संत रविदास की प्रसिद्धि सुनकर राणा सांगा की पत्नी मीरा की सास रतन कुंवरी (झाली रानी) भी तीर्थ यात्रा करने काशी आई थी। उसने रविदास से दीक्षा ली थी और उन्हें चित्तौड़ आने का निमंत्रण दिया था (सन् 1517)। संभव है गुरु रविदास इसके पश्चात ही चित्तौड़ चले गये हों जहां उनका बड़ा सम्मान हुआ था। वे राणा सांगा के सपुत्र कुंवर भोज राज की शादी में भी सम्मिलित हुए थे। परन्तु उनका काशी से संपर्क लगातार रहता रहा और संभव है वे 1527 में अंतिम बार चित्तौड़ गये हों।

अनन्तदास ने अपनी परिचई (परिचै) में लिखा है कि रविदास ने कबीर साहब की आज्ञा लेकर चित्तौड़ को प्रस्थान किया था, जिसका अर्थ यह हुआ कि यह प्रस्थान कबीर साहब के जीते जी 1518 से पहले हुआ। झाली रानी का काशी दर्शन 1517 के लगभग बतलाया जाता है।

**आज्ञा लई कबीर की पुनि हरि आज्ञा दीन।**
**रमन मतौ चित्तौर को जन रैदास तब कीन॥**

चित्तौड़गढ़ की 18 सौ फुट ऊंची पहाड़ी पर विजय स्तंभ के पास एक 7 फुट ऊंचे चबूतरे पर राणा कुम्भा द्वारा निर्मित (सन् 1458) कुम्भ श्याम का मंदिर बना है, जिसके खुले प्रांगण में रविदास जी भजन कीर्तन किया करते थे। मीरा का विवाह 1516 से 1520 ई० तक हो चुका था। विवाह के चार वर्ष बाद कुंवर भोजराज की मृत्यु हो गई थी। मीरा नित्य भजन सुनने जाती थी और बहुत दु:खी थी। उसने मार्च 1527 में गुरु रविदास को अपना गुरु ग्रहण कर लिया।

संत रविदास को गुरु ग्रहण करने के उपलक्ष्य में मीरा ने एक सहभोज या ज्योनार का आयोजन किया था, जिसमें एक बड़ी संख्या में ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया गया था (संभव है यह सहभोज मीरा और झाली रानी ने सम्मिलित रूप से दिया हो जैसा कि पृष्ठ 58 पर दिया गया है)। जब ब्राह्मणों को यह पता लगा कि उन्हें एक शूद्र के साथ भोजन करना पड़ेगा तो, उन्होंने इस बात पर आपत्ति की और महाराणा के समझाने पर भी जब वे नहीं माने तो, उनके लिए अलग रसोई बनाने पर समझौता हुआ। रविदास उनके भंडारे से अलग रहने पर सहमत हो गये। भोजन तैयार करके जब विप्र लोग भोजन के लिए बैठ गये, तो यह देखकर चकित रह गये कि हर दो ब्राह्मणों के बीच में रविदास बैठे हैं। रविदास ने अपने ब्राह्मणत्व का प्रमाण देने के लिए अपने वक्षस्थल की त्वचा चीरकर एक स्वर्ण जनेऊ (यज्ञोपवीत) के दर्शन कराये। इस घटना के साथ-साथ उनके शरीर से एक ज्योतिपुंज निकलकर आकाश में समा गया। नाभादास के भक्तमाल के अनुसार यह दावत झाली रानी ने दी थी।

यह सहभोज कुंभ श्याम के मंदिर से सौ फुट नीचे गांभीरी नदी के किनारे हुआ था। रविदास के पार्थिव शरीर का कुछ पता न चला। कुछ लोग यह भी कहने लगे हैं कि उनका शरीरांत ही नहीं हुआ वरन् वे अपनी पत्नी के साथ देह सहित स्वर्ग चले गये। उनके पंथ के लोगों के अनुसार वे चैत्र बदी चतुर्दशी को अखण्ड ज्योति में लीन हो गये। उनके निर्वाण के पश्चात मीराबाई और झाली रानी ने कुम्भ श्याम के मंदिर के ऊंचे चबूतरे के दाहिनी ओर 'श्री रविदास की छतरी' नामक स्थान बनवाया जहां उनके केवल दो पद चिह्न अंकित हैं। राजस्थान में छतरियां एक प्रकार की समाधियां ही होती हैं। उसी वर्ष (कार्तिक स० 1584) में राणा सांगा को बाबर ने हरा दिया और अगले वर्ष उसको किसी ने विष देकर

मार डाला। मीरा के पिता का देहांत बाबर के साथ लड़ाई में हो चुका था। मीरा को राणा विक्रम सिंह ने यातनाएं दी थीं इसलिए उसे भी एक दिन चित्तौड़ छोड़ना पड़ा। (1531 ई०)।

नाभादास भक्तमाल में लिखते हैं:

**भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई**
**राज सिंहासन बैठि जाति पर तीति दिखाई।**

अनन्तदास ने भी लिखा है:

**पन्द्रहसौ चउ असी भई चित्तोर मंह भीर**
**जर-जर देह कंचन भई रवि-रवि मिल्यो शरीर।**

## नाम

संत शिरोमणि गुरु रविदास का प्रचलित नाम रैदास था। रविदास आधुनिकी-करण या संस्कृतीकरण कहा जा सकता है। अब से पहले बहुत से नाम अपभ्रंशों के द्वारा ही उच्चरित किये जाते थे। हमारी भाषा भी लगभग अपभ्रंश ही है। हमें प्रचलित शब्दों का संस्कृतीकरण करके अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। अधिकतर पुराने ग्रंथों में रविदासजी का नाम रैदास ही लिखा है। डब्ल्यु० एच० मेकलीड ने भी अपनी पुस्तक 'गुरु नानक एंड दी सिख रिलिजन' में उनका नाम रैदास ही लिखा है। मीराबाई ने भी अपने गुरु का नाम रैदास ही लिखा है। आधुनिक लेखक जैसे डा० योगेन्द्र सिंह और डा० धर्मपाल मैनी ने भी उनका नाम अपनी पुस्तकों में रैदास ही लिखा है, डा० पदम ने तो 'रैदास' नाम का कोई और ही संत बता दिया जो गुरु रविदास नहीं हो सकता।

रैदास शब्द देशज तथा प्रांतीय भाषाओं में कितने ही रूपों में उच्चरित हुआ है। जैसे सुरेन्द्र नाथ गुप्त ने उन्हें अपनी पुस्तक—'हिन्दू मिस्टिसीजम' में **'रूईदास'** कहा है जिस पर बंगला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। **गुरु ग्रंथ साहब में** अधिकतर उनका नाम **रविदास ही लिखा** है जिस पर पंजाबी का प्रभाव स्वाभाविक है। **भक्त धन्ना ने भी** उनका नाम **रविदास** ही लिखा है। **रोह.दास** और **रायदास** भी इसी प्रकार के शब्द हैं, इसके अलावा **रयदास, रदास** (बीकानेर), **रयिदास, रायदास, रूपदास**

राईदास, रुहदास आदि नाम भी आते हैं जो उच्चारण भेद के कारण मौखिक परंपरा से परिवर्तित होते गये ।

ब्रिग्स महोदय ने उनका नाम रामदास लिखा है, यह नाम विवादास्पद है, क्योंकि रैदासी समाज की एक उपजाति जो सिख बन गई हैं स्वयं को रामदासी या रमदसिये सिख कहती है। कुछ कहते हैं कि एक रामदास कबीर पंथी संत भी हुआ है। रविदास का नाम रामदास नहीं हो सकता। सिखों से पहले इस समाज पर कबीर पंथी साध समाज का प्रभाव था जिनका गुरु रामदास था। हमारे विचार से रैदास और रविदास एक ही नाम हैं। 'रै' 'शब्द बहुत पुरातन और वैदिक भाषा का है और उसका अर्थ सूर्य, सूर्य किरण अथवा प्रकाशवान (धन सम्पति) आदि हो सकता है। अंग्रेजी का शब्द 'रे' उसी से साम्य रखता है– रै और रे पुराने मिश्री भाषा के शब्द सूर्य के अर्थ में आते हैं। रविदास सूर्य का पर्याय संस्कृत शब्द है। हमने इस पुस्तक में रविदास नाम ही रखा है, क्योंकि रविदास समाज में आजकल यही नाम प्रचलित और मान्य है।

## जन्म-स्थान

रविदास ने अपने बारे में कुछ नहीं कहा। उनकी वाणियों में कुछ उद्‌गार अवश्य प्रदर्शित हुए हैं, जिनको हम अन्त: साक्ष्य मानकर कुछ निर्णय ले सकते हैं, उनके जन्मस्थान के विषय में भी कुछ विवाद है। परंपरागत साहित्य और जनश्रुतियों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे कहीं वाराणसी के आसपास के ही रहने वाले थे। उत्तर प्रदेश की रविदासी संप्रदाय की गद्‌दी भी इस बात से सहमत हैं। यह बात भी इस बात की पुष्टि करती है कि उपजाति चमकटिया पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में रहती है जो वाराणसी के निकट है।

इसके विरुद्ध कुछ लोगों का यह भी विचार है कि वह कहीं पश्चिमी उत्तर प्रदेश और गुजरात के पश्चिमी क्षेत्र के रहने वाले थे। इसका आधार वह उनके काव्य में कतिपय प्रचलित शब्दों का उपयोग और इस क्षेत्र में कुछ ऐतिहासिक स्थानों आदि का होना मानते हैं। किन्तु यह ठोस आधार नहीं कहा जा सकता। दूसरा विचार यह है कि उनके अनुयायी गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान में अधिक पाये जाते हैं, इसलिए वे इसी क्षेत्र के किसी स्थान के रहने वाले होंगे। उनका

कहना है कि चूंकि चित्तौड़गढ़ में कुंभ श्याम के मंदिर के प्रांगण में 'श्री रैदास जी की छतरी' नामक स्थान और धार रियासत के मांडोगढ़ में श्री रविदास कुंड और कुटी स्थित है अतः वे मांडोगढ़ के निवासी थे। किन्तु कुंड और कुटियां तो उनके श्रद्धालु भक्तों ने बहुत से स्थानों पर बना डाली हैं, इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि उनका जन्मस्थान मांडोगढ़ ही था। अधिक अनुयायियों का होना उनके प्रभाव को बताता है। रैदास रामायण में मांडुर उनका स्थान बताया है, परन्तु वह तो काशी के पास था।

**काशि ढिग मांडुर स्थाना (शुद्ध) शुद्र वरण करत गुजराना।**
**मांडुर नगर लीन अवतारा, रविदास शुभ नाम हमारा।**

भविष्य पुराण में भी इसी प्रकार का प्रसंग आया है, जिसमें श्री शंकराचार्य और संत कबीर के साथ उन के शास्त्रार्थ की चर्चा है। इन दोनों ग्रंथों को विद्वानों ने प्रमाणित नहीं माना है, क्योंकि ये सांप्रदायिक ग्रंथ हैं। रविदास रामायण तो बहुत ही परवर्ती है। भविष्य पुराण में शंकराचार्य, कबीर, रविदास और रामानंद को एक ही समय में उपस्थित दिखाया गया है। यह पुराण कभी अकबर के समय में लिखा गया था। इन ग्रंथों से इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनका जन्म स्थान काशी या उसके आस-पास था।

(1) **मेरी जाति कुटबाँढ़ला ढोरढोवंत नितहि बनारसी आस-पास**
(2) **जाके कुटुम्ब के ढेढ सभ ढोर ढोवंत फिरहि अजहु बनारसी आस-पास।**

इससे इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनका जन्म स्थान मांडुर था, जिसका पुराना नाम मण्डुआडीह था। यह वाराणसी के पास है—यह राजस्थान का मांडोगढ़ (मांडोर या मंडवार) नहीं हो सकता। मंडुर बनारस कैंट के पास लगभग दो मील पश्चिम में ग्रांड ट्रंक रोड पर स्थित है, इसके पास ही लहरतारा नाम की पुरानी हरिजन बस्ती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि रविदासजी का बहुत-सा समय काशी ही में व्यतीत हुआ। कुछ लोगों का विचार है कि काशी-स्थित गोपाल जी का मंदिर उन्हीं का बनवाया हुआ है। इस मंदिर के बारे में यह भी कहा जाता है कि तुलसी नामक एक गुफा (गुप्तस्थान) में उनके नित्य उपयोग की कुछ वस्तुएं रखी हुई हैं। यह गुफा प्रायः बंद रहती है।

## माता-पिता

संत रविदास के माता पिता के बारे में कोई भी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। रैदास वाणी में उनके पिता का नाम रघु और माता का नाम घुरबिनिया लिखा है। रैदास रामायण में उनकी तीन पीढ़ियों की कल्पना की गई है। बक्शी दास की 'रैदास रामायण' में उनके पिता का नाम राहु या राउ और माता का नाम करमा बताया गया है। एक रैदास रामायण में रहु नाम भी आया है। रघु से रहु और रहु से राहु बन गया होगा। रैदास पुराण में उनकी मां का नाम भगवती दिया गया है और उनका जन्म भगवती मां के हाथ के फफोले से बताया गया है। भविष्य पुराण में उनके पिता का नाम मानस दास बताया गया है। परन्तु गुजराती साहित्य में इस नाम का उनका गुरु बताया गया है।

रविदास महासभा वाले उनके पिता का नाम रग्घु मानते हैं जो केवल रघु का उच्चारण भेद मालूम होता है। मौखिक परंपरा में रघु से राघु, रहु, राहु और फिर राउ का रूपांतर होना संभव है। भाई बरकत सिंह ने 'रविदासजी की जन्म साखी' में उनके पिता का नाम संतोष दास और माता का नाम कौसा देवी लिखा है। यह नाम बहुत प्रचलित नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार राघव या रघुनाथ नाम भी बहुत प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह सब शुद्धिकरण और अंध-श्रद्धा का चक्कर है। सामान्यत: उनके पिता का नाम रग्घु (रघु) और माता का नाम घुरबनिया (गृह वनिता) माना गया है।

## परिवार

ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'दी चमार्स' में संत रविदास की पत्नी का नाम लोना या लोणा लिखा है जो चमारों की चमकटिया नामक उपजाति में पैदा हुई थीं। चमकटिया एक कर्म-विभाजन का नाम भी हो सकता है जैसे 'रंगिया-मोची' आदि। संभव है ये लोग मृत पशुओं का चमड़ा निकालने और उसको शहर से बाहर ले जाने का काम करते हों। चमार जाति की स्त्रियां अभी तक पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोना चमारिन की पूजा करती हैं और अपने बच्चों की मंगल-कामना के लिए उससे मन्नत मांगती हुई बीमारी में उसकी पूजा करती हैं। रविदासजी के भक्तों ने उनकी धर्म पत्नी को भी उनके बराबर ही सम्मान प्रदान कर दिया और उनकी लोना देवी के स्थान पर पूजा होने लगी। लोना देवी कोई मातृ देवी भी हो सकती है, जिसकी पूजा परंपरा से चली आई हो।

लवण, लौन, लोना, नून, लूण आदि नमक के नाम हैं। किसी समय सभी काम आने वाली वस्तुओं के पीछे एक देवी की भावना रही है। रविदास की पत्नी का नाम लोना मातृ देवी के साथ जुड़ने से भगवती लोना पड़ गया। कुछ लोग उनका नाम भगवती भी लेते हैं। इसी प्रकार की एक देवी होली या होलिका भी है। हम उनका नाम भगवती लोना मानते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि रविदास का विजयदास नामक एक पुत्र भी था,। कुछ लोगों का यह विचार है कि वे गृहस्थ तो थे, परन्तु विरक्त भाव के कारण गृहस्थी होकर भी साधु-जीवन व्यतीत करते थे। परमत्मा की अनन्य भक्ति में लीन होकर संत सांसारिक भोगों को निस्सार समझने लगते हैं और उससे विरक्त हो जाते हैं। परन्तु इसके पीछे यह भावना जोड़ देना कि विरक्त ही भक्ति का अधिकारी है, गृहस्थ-जीवन के प्रति हीन भावना का प्रदर्शन है। इस प्रकार की भावनाएं संतों के मन में कभी नहीं थीं। बात यह है कि उनके ऊपर इस्लाम और सूफी प्रभाव था, जिसमें गृहस्थ धर्म के प्रति पूरा सम्मान है। इस धर्म में गृहस्थ रहकर भी भगवान का भजन करने का विधान है। सहजयान में भी इसी प्रकार की भावना का उदय हुआ था। इन संतों ने कभी भी घर छोड़कर वन या एकांत में जाकर तपस्या करने को ठीक नहीं कहा है। प्रत्युत सत्संग, भजन और कीर्तन आदि में दत्त चित्त होकर मन को एकाग्र करने का साधन बताया है, जिनमें नामस्मरण प्रमुख है। हिंदू समाज में विरक्तों का सम्मान होने के कारण संतों के साथ भी इसी प्रकार के विचार जोड़ दिये गये हैं। बुद्ध भगवान का मध्यम-मार्ग, संयम और सहज मार्ग, इन्हीं संतों द्वारा सार्थक हुआ था। इन संतों ने हठयोग द्वारा प्राप्य उत्सर्ग को भक्ति और भजन, ध्यान और चिंतन के द्वारा उपलब्ध कराया है, जिसे सहज साधना कहते हैं। यह परंपरा अलवारों-रामानुज,रामानंद और कबीर के माध्यम से इस काल तक चली आई थी, इसी को भाव भक्ति कहते हैं।

## जाति

संत रविदास जी के अभिभावकों की धार्मिक प्रवृत्ति से संकेत पाकर कुछ लोगों ने उन्हें ब्राह्मण जाति या उच्च वर्ग से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस संदर्भ में जो भी कथानक आये हैं, उनके लिखने वालों के मन में एक ही भावना छिपी दिखाई देती है कि ब्राह्मण के अलावा दूसरी जाति का मनुष्य ऊंचा भक्त या महान संत नहीं हो सकता। संत अनंत दास ने अपने 'भक्त चरित्र और रैदास की परिचै' में रविदासजी के पूर्व जन्म में ब्राह्मण होने की कल्पना की है।'रैदास जी की वाणी' में भी उनको पूर्वजन्म का

ब्राह्मण माना गया है। प्रियादास की लिखी भक्तमाल की टीका 'भक्तिरस बोधिनी' में भी यह कहानी आई है कि संभवतः पूर्वजन्म में ब्राह्मण रह चुकने के कारण ही उन्होंने चमार के घर उत्पन्न होकर भी अपनी मां का दूध नहीं पिया था। स्वामी रामानंद ने जब आकर उपदेश दिया और अपना शिष्य बना लिया तभी, उन्होंने स्तन-पान करना प्रारंभ किया। इस कथानक के अनुसार वे बहुत छोटी आयु में ही स्वामी रामानंद के शिष्य बन गये थे। उसी प्रकार 'रैदास रामायण' में भी उन्हें "पिपलार गोत्र अरु सूर्य दासी" कहकर द्विज सिद्ध करने का प्रयास किया है। भविष्य पुराण के अनुसार वे सूर्य वंश से थे, उन्हें भगवान भास्कर का दूसरा पुत्र बतलाया गया है। कथानक इस प्रकार है कि एक बार शनि, राहु और केतु के प्रकोप को रोकने के लिए सूर्य ने अपने दो पुत्रों को पृथ्वी पर भेजा। पहला पुत्र इड़ापति (छागन्ह) कसाई के घर 'सधन' नाम से अवतरित हुआ और दूसरा पिंगलापति मानस दास चमार के यहां रैदास नाम से अवतरित हुआ।

उक्त लेखकों ने मनगढंत और काल्पनिक कथाओं के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रविदास पूर्वजन्म में ब्राह्मण या उच्चवर्ग में उत्पन्न हुए थे और उसी के कारण ऊंचे भक्त और महान संत हुए। इन लेखकों में संकीर्ण और सांप्रदायिक मनोवृत्ति दिखाई देती है। ये विचार असंगत और अमान्य हैं। रविदासजी की जाति चमार थी इस तथ्य को उन्होंने बार-बार अपनी रचनाओं में स्वीकृत किया है।

(1) **नागर जना मेरी जाति विख्यात चमारं।**

(2) **कहि रविदास खलास चमारा।**

उन्होंने स्वयं को चमार कह-कह कर जाति अंहकार को निरर्थक कर दिया है। उनकी जाति के विषय में स्पष्ट कथन तत्कालीन संतों के इस विचार को पुष्ट करता है कि भक्ति के बल से निम्नतम जाति का व्यक्ति भी परमगति को प्राप्त कर सकता है। कदाचित इसीलिए रविदास ने अपनी वाणी में खुलकर अपने पेशे और जाति का वर्णन किया है।

**जाके कुटुम्ब के ढेढ़ सभ ढोर ढोवंत**
**फिरहिं अजहु बनारसी आस पास।**

यहां पर ढोर ढोवत का कुछ लोगों ने ढोरों (पशुओं) का व्यापार करने का अर्थ करते हुए उनके पिता को एक समद्ध व्यापारी वर्ग से संबंधित करने का प्रयास किया

है। मृत पशुओं के चमड़े का व्यापार करने वाले लोग धनी होते थे इसमें कोई संदेह नहीं—उनसे भी अधिक धनी चमड़ा रंगने या पकाने वाले होते थे। बनारस जरी वाले जड़ाऊ जूतों के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। संभव है रविदास के पिता यही काम करते हों। परंतु रविदास जूता बनाकर या जूता मरम्मत करके ही गरीबी से साधारण जीवन व्यतीत करते थे। उनका छोटी आयु में ही घर वालों से संबंध छूट चुका था। इस पद में उन्होंने अपने को ढेढ़ कह कर बहुत गिरा हुआ और छोटा दिखाते हुए अपनी दीनता और अधीनता की परकाष्ठा के द्वारा अपने अहंकार को निम्नतर स्तर पर लाकर समाप्त करने का प्रयत्न किया है। ढेढ़ मध्य प्रदेश में महारों की एक निम्नतर उपजाति है, जिन्हें अघोरी कृत्य करने के कारण हीन दृष्टि से देखा जाता था। उत्तर भारत में अभी तक कौओं को ढेढ़-ढेढ़ कहकर उड़ाया जाता है। संस्कृत भाषा में अप्रिय भाषा बोलने वाला काला कौआ 'रावण' कहा जाता है—"राव राव करोति इति रावण"। अंग्रेजी शब्द रैवन के पीछे भी यही भाव है। इसके अनुसार ढेढ़ रावण की जाति का नाम हो सकता है जिसे सभ्य समाज में सदा घृणा की दृष्टि से देखा गया है। कहने की अभिप्राय यही है कि रविदास की जाति ढेढ़ नहीं थी।

अपनी जाति को वर्ण-व्यवस्था का ऊंचा लेबिल लगाना हमारी सांस्कृतिक परंपरा रही है। संत सत्य का जीवन व्यतीत करते थे। सत्य का साक्षात्कार ही परमात्मा का साक्षात्कार है; यही संतों की शक्ति का स्रोत था जिसके बल से उन्होंने झूठ का प्रतिकार कर सच्चा मार्ग-दर्शन किया था। कोई जाति ऊंच या नीच नहीं हैं, यही सत्य का साक्षात्कार था और उन्होंने उसका साक्ष्य पेश किया था। संतों की जाति को ऊंचा प्रमाणित करना उनकी महानता को घटाना है और उनकी जाति को हीन-भावना से लादना है। वे संसार की आंखों में जाति से नीच थे जो उन्होंने गर्व के साथ स्वीकार किया और भक्ति के द्वारा परम पद को प्राप्त कर यह सिद्ध किया कि भगवान के दरबार में पहुंचने के लिए जाति या कुल विशेष की बाधा नहीं है। प्रभु कृपा से वे सीधे महान बन गये; उनके कर्म की रेखा मिट गई।

**नीचह ऊंच करै मेरा गोबिंद काहू तै न डरै**

**नामदेव कबीरु तिलोचन सधना सैनु तरै**

**कहि रविदास सुनहु रे संतहु हरि जीउ तें सभै सरै।**

प्रभु कृपा उन सभी श्रद्धालुओं को सहज प्राप्त होती जाती है जो अहंकार छोड़कर उसकी शरण में आते हैं और सभी जीवों के साथ प्रेम और दया का व्यवहार करते हैं। अपने को हीनतम कहकर अपनी दुर्दशा का अनुभव कराना उनकी विनय और नम्रता की पराकाष्ठा थी। दीनता और अधीनता के बिना प्रभु भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। वर्ण, धर्म और जाति के अहंकारी को कभी भी परमपद प्राप्त करते हुए नहीं देखा गया है। जीतने के लिए सर झुकाना पड़ता है या बलिदान करना पड़ता है, क्योंकि यह तो प्रेम का सौदा है।

**यह तो सौदा प्रेम का, खाला का घर नाहि**
**शीश उतारे भूई धरे तब आयै एहि माहि। —कबीर**

चमार जाति की उत्पत्ति को किसी उच्च वर्ग से जोड़ने से केवल जाति अहंकार को बढ़ावा मिल सकता है और कुछ नहीं। रविदास जाति और क्षेत्रीय भावनाओं से ऊपर थे। उन्हें इस पचड़े में डालकर उनके महामानव के ऊंचे कुल से उन्हें नीचे ढकेलना है। आज जातिवाद का समय नहीं है इन महान आत्माओं की यही शिक्षा थी। संत रविदास और दूसरे संतों ने ईश्वर का साक्षात्कार कर निम्न वर्ग के लोगों में आत्मबल और सम्मान की भावना का संचार किया जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि भगवान के दरबार में कोई भेदभाव नहीं है और सभी मानव-निर्मित भेदभाव झूठे और स्वार्थपूर्ण हैं।

## शिक्षा-दीक्षा

भगवत भक्ति और आत्मज्ञान के लिए किसी गुरुकुल या विश्वविद्यालय की आवश्यकता नहीं है। नवनिर्माण के लिए कुछ काट-छांट या परिवर्तन आवश्यक होता है, रूढ़िवादिता और विद्या-अहंकार को संतों ने इसीलिए तोड़ डाला। संत रविदास एक उच्च कोटि के भक्त थे। परमात्मा से सच्चा और अटूट प्रेम, जीवन तथा जगत की अनित्यता का पूर्ण आभास, संत की साधना के प्रमुख सेतु होते हैं। ये प्रवृत्तियां उनमें स्वाभाविक और जन्मजात थीं। उस समय शिक्षा के लिए वर्ग-विशेष के लिए पूर्णरूप से द्वार बंद थे। इसलिए नियमपूर्वक शिक्षा के द्वारा भाषा-साहित्य और दर्शन के शास्त्रीय ज्ञान की बात करना या उनके विषय में पढ़े-लिखे होने की बात करना निरर्थक माथा-पच्ची करना है। उनका ज्ञानोपार्जन केवल मनन, ध्यान और सत्संग के द्वारा ही हुआ था। इसी कारण संतों ने सत्संग की महिमा बार-बार गाई

है। प्रारब्ध और पूर्व के जन्मों के संस्कारों का भी इसमें सहयोग हो सकता है, परन्तु यह बहुत विवादास्पद विषय है। इसकी व्याख्या ने समाज में बहुत से दुराग्रह उत्पन्न कर दिये हैं। जन्मजात प्रतिभा और संस्कारों के बल से ही वे बाल्यकाल से ही जीवन तथा जगत के भौतिक मिथ्या व्यापारों से विलग होकर सत्य-ज्ञान की खोज में तल्लीन थे।

कुछ लोग कहते हैं कि रविदास के पिता ने उन्हें पढ़ाना चाहा था, परन्तु उनका मन पढ़ाई में नहीं लगता था। दूसरे लोग कहते हैं कि उनका विधिवत शिक्षण न होने के कारण वे अनपढ़ रह गये थे। किंतु उनकी वाणी को देखने से यह बातें उचित नहीं लगतीं। उन्होंने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया अथवा नहीं यह विवाद उनकी प्रतिभा को देखते हुए निरर्थक लगता है। संत-परंपरा के अनुसार विद्या और सरस्वती भी माया हैं, जो इनमें उलझ गया वह जीवनपर्यन्त इन्हें लक्ष्मी की तरह बटोरता ही रहेगा और धीरे-धीरे भाव भक्ति से दूर होता जायेगा। संतों के पास इस विद्या-विलास के लिए समय नहीं था, क्योंकि उनका प्रत्येक क्षण प्रभु के ध्यान में व्यतीत होता था। यह सत्य है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के कारण और निम्न समझी जाने वाली चमार जाति का होने के कारण उन्हें किसी पाठशाला में बैठकर विधिवत वेद, शास्त्रादि या गुरु-मुख से अध्ययन करने का सुयोग मिलना संभव नहीं था, परंतु उनकी वाणी के माध्यम से यह पता चलता है कि उन्हें वेद, उपनिषद, गीता, भागवत पुराण आदि के विषयों का सार और उनकी विचारधारा का पूर्ण ज्ञान था। यहां हम भूल जाते हैं कि वेद या ज्ञान सुनने और मनन करने से प्राप्त होता है। ऋषियों को यह उपलब्धि श्रवण और मनन इन्हीं दो स्रोतों के द्वारा ही हुई थी। इन संतों को भी ज्ञानोपलब्धि सत्संग के द्वारा हुई थी और यह लगभग मौलिक थी। रविदास ने कृत्रिम अध्ययन को छोड़कर प्रभु की पाठशाला में राम नाम पढ़ने का प्रयास किया। पुस्तक-ज्ञान का बोध न होने के कारण ही उन्हें आत्म-ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुंचने का अवसर मिला था।

उनकी विद्या पराविद्या थी जिसे सुविधा कहा गया है। भौतिक ज्ञान को अविद्या या अपरा विद्या कहा गया है, जिसमें वेद पुराण आदि शास्त्रों का ज्ञान आता है। संत संप्रदाय में ध्यान को ही विचार कहते हैं, जिसमें भक्ति मिल कर सहज योग हो जाता है, जिसकी साधना नामस्मरण से प्रारंभ होती है। इसका फल वही होता है जो हठयोग की क्रियाओं से होता है, परंतु इसमें भय अलोप हो जाता है जो हठयोग में सदा बना रहता है।

चलि हरि चटसाल पढ़ाऊं
गुरु की आंटि ग्यान का अक्षर
विसरत सहज समाधि लगाऊं
प्रैम की पाटी सुरति कर लेखनी
ररीं मम्मा लिखि अंक दिखाऊं
इहिविधि मुक्त भये सनकादिक
हृदय विचार प्रकाश दिखाऊं

प्रह्लाद चरित्र में देखिए।

मैं पढ़्यो राम को नाम और दूजा नहिं जानों
ररीं मम्मा छांड़ि तीसरे अंक न आनौ
कहा पढ़ावै बावरै और सकल जंजाल
भौ सागर जमलोक है मोहि कौन लगावै पार।

यहां 'ररीं मम्मा' 'राम' शब्द का द्योतक है, क्योंकि रं रमाय नमः का मंत्र उन्होंने स्वामी रामानंद से ग्रहण किया था। संत मत के अनुसार पुस्तकाज्ञान की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान का अधिक महत्व है। उनकी दृष्टि से सद्विद्या या सुविधा वह है जो मनुष्य को भौतिक बंधनों को छुड़ाकर उसे प्रभु की भक्ति की ओर उन्मुख करे। उनकी वाणी में भारतीय दर्शन के गूढ़ विचार देखने योग्य हैं।

---

**टिप्पणी :** शिक्षा के प्रचार से पहले लोग अकेले अक्षरों का उच्चारण इसी प्रकार करते थे जैसे क को कक्का, म को मम्मा, र को ररीं आदि।

3-M/P(D)600MofI&B—4

अध्याय–6

# संत रविदास का वृहत्तर जीवन

## प्रारम्भिक जीवन और प्रवृत्तियां

प्रारब्धवश गुरु रविदास बाल्यकाल से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। बाल्यावस्था में उनका ध्यान खेलकूद में नहीं लगता था। यह उत्कट चिंतनशील मनुष्य का चिन्ह है। क्योंकि वे सांसारिक बातों में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहते थे। जब कभी भी उन्हें एकांत मिलता वह अपने सहज स्वभावानुसार भगवत-चिंतन में लीन हो जाते थे। सात वर्ष की आयु में ही उन्होंने प्रभु-भक्ति में अपना अधिकांश समय बिताना प्रारम्भ कर दिया था। यही आयु जीवन का पहला मोड़ होती है। पढ़ने-लिखने का तो प्रश्न ही नहीं था। अनन्तदास जी भक्तमाल में लिखते हैं :

**दिन-दिन हिरदे हरि विसवासु दिन-दिन बड़ो भयो रविदासु**
**बरस सात को भयो है जब ही, नौधा भगति दिढ़ाई तब ही**
**हरि भगतिन की सेवा करै, सतगुर कहीस सीख न टरै।**

संसार से विरक्त देखकर उनके माता-पिता ने उन्हें पैतृक व्यवसाय में लगा दिया। वे पैतृक कार्य में शीघ्र ही पूर्ण पारंगत हो गये। वे अपने पिता के साथ कार्य भी करते और समय पाकर संत-महात्माओं की सेवा भी करते। इसी संदर्भ में एक कथानक आता है कि एक बार उनके पिता रघुजी ने बड़ी श्रद्धा से रवि की पूजा का आयोजन किया। इसी समय कुछ साधु-संत रघुजी के घर के पास से गुजरे। संयोगवश उस समय रघुजी ने ब्राह्मणों को दान करने के लिए कुछ अन्न रखा था। रविदास ने यह अन्न साधुओं को दे दिया। जब पिता को पता चला तो, उन्होंने बालक रविदास से पूछा कि उसने यह क्या किया ? इस पर रविदास ने उत्तर दिया कि मैंने अन्न का सदुपयोग किया है। ब्राह्मणों की अपेक्षा संतों को दिया अन्न अधिक लाभदायक है। वैसे यह कथानक संदेहजनक है कि क्या उस समय ब्राह्मण अंत्यजों के घर का अन्न ग्रहण कर लेते थे। कथानक का उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि गुरु रविदास बाल्यावस्था से ही संत-सेवा और प्रभु-स्मरण, अपने पैतृक कार्य में संलग्न होते हुए भी करते रहते थे। महाशय ब्रिग्स के अनुसार "उन्होंने 18 वर्ष की आयु में राम-जानकी जी की प्रतिमा की पूजा प्रारम्भ कर दी थी।" संभव है वे जीवन के अंतिम चरण में निर्गुण के पुजारी बन गये हों, जैसा कि उनकी वाणियों से परिलक्षित है।

रविदास बाल्यावस्था से किशोरावस्था में प्रवेश कर गये और जाति के आधार पर अपने पैतृक व्यवसाय में अपने पिता का हाथ बंटाते रहे। इसके साथ ही उनकी प्रभु-भक्ति और संत-सेवा की प्रवृत्ति भी निरंतर वढ़ती गई। परिणामतः उनका पैतृक व्यवसाय में ध्यान कम हो गया। जब भी किसी साधु-संत को देखते उसी समय सभी कार्यों को छोड़कर उनकी सेवा में लग जाते थे; कभी-कभी तो दुकान पर बने हुए जूतों को भी साधुओं को पहना दिया करते थे। रैदास जी का एक पद "चरमठा गांठ न जनई, लोग गठावें पनही"—एक सुन्दर व्यंग्योक्ति है, जिसको लोगों ने इस बात का साक्ष्य कहा है कि वह अपने काम में भी निपुण नहीं थे। यद्यपि इस बात की बहुत कुछ संभावना है, परन्तु इस पद का भक्ति में दृढ़ संकल्प से सम्बंध है। कबीर ने भी इसी प्रकार का एक पद कहा है—"गिरह छाड़ि जोगी भये जोगी के गिरह नाहि।" यहां पहला गिरह (गृह) घर का अर्थ रखता है और दूसरे का निष्ठा या निश्चय की गांठ है। वह चर्म-कार्य करते थे और कमाकर खाते थे, परन्तु उनका धंधा केवल "उदर समाती" लेने का था, जिससे स्वयं का पेट भी भर जाये और साधु भी भूखा न जाये। वे व्यापारी नहीं थे। व्यापार करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

रघुजी ने ऐसा करते हुए देखकर उन्हें विवाह बंधन में बांधने का निश्चय किया और कुछ समय पश्चात् एक सुयोग्य लड़की के साथ उनका विवाह कर दिया जिसका नाम बाद में भगवती लोना या लोणा पड़ा था। इस प्रसंग में राजा जसवंत सिंह अपनी भक्तमाल की टीका में लिखते हैं:

**बाल बैस रविदास को कीनो पिता विवाह**
**बडो भयो देखि कर्म नित कह्यो खाट (खट) कर खाह**
**कह्यो खाट कर खाहि रास हमरे गृह जोई**
**ताकि पनही बनाई देइ साधन सभ खोई**

रघुजी का विचार था कि विवाह होने पर रविदास संत, संगीत और प्रभु भक्ति से उपरत होकर अपने व्यवसाय में लग जायेगा, परन्तु इसके विपरीत उनकी दिनचर्या वैसी ही बनी रही और उनकी प्रवृत्ति भक्ति, सत्संग, साधु-सेवा और ज्ञान-ध्यान में उत्तरोत्तर वढ़ती गई। वे व्यवसाय में कम समय देने लगे और उनका अधिकतर समय साधु-संगत और निर्धनों की सेवा में बीतता गया। उनकी धर्मपत्नी भी साधु सेवा में उनका साथ देती रही। वह साध्वी स्त्री थी और पति की इच्छानुसार जीवन

83-M/P(D)600MofI&B—4(a)

व्यतीत करती थी। इस प्रकार की अवस्था देखकर रघुजी ने रविदास को बहुत समझाया, प्रताड़ना दी और बुरा भला कहा कि वह व्यवसाय की ओर ध्यान दे। परन्तु रविदास पर इस प्रताड़ना का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। आगे चलकर भक्तमाल में संत नित्यानंद ने लिखा है :

**पिता त्रास देंबहु समझावै**

**कुल करनी करि कछु न कमावै**

**बहू आदर करि संत बोलावैं**

**मिले जो घर में सब भुगतावैं ।**

इस व्यवसाय के कारण रविदास अपने परिवार तथा संबंधियों द्वारा बिगड़ा हुआ बालक समझा जाने लगा। इस स्थिति का ध्यान कर रविदास भाव विह्वल हो प्रभु से पुकार करते हुए कहते हैं :

**नर हरि प्रगटसि ना हो प्रगटसि ना हो दीन-दयाल**

**जन मत ही तै हों बिगरान, हों कछु बूझत बहुरि सयान**

**परिवार विमुख मोहि लागि, कछु समुझि परत नहि जानि ।**

श्रीराम चरण कुरील लिखते हैं कि रविदास जो भी घर में पाते साधु-संतों की सेवा में लुटा दिया करते थे। वह किसी भी दीन-दुखी या साधु को नंगे पैर चलते देखकर एक जोड़ा जूते प्रति दिन दान किया करते थे। उसके पिता ने चमड़े के व्यापार में बहुत पैसा कमाया था। जूते के व्यापार में वाराणसी का नाम प्रसिद्ध था जहां तिल्ले और जरी वाले जूते बनाये जाते थे। संपत्ति को इस प्रकार लुटता देखकर उनसे रहा न गया और रविदास को घर से निकाल दिया और अलग घर बनाने के लिए अपने घर के पीछे थोड़ी जगह दे दी। प्रियदास ने लिखा है कि वह अपने घर के पिछवाड़े ही फूंस की झोंपड़ी बनाकर अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। जूता बनाना और गांठना या मरम्मत करना ही इनका व्यवसाय था। उसी से वे अपनी जीविका चलाते थे। सादा और संयमी जीवन ही उनका आदर्श

था। सेवा और भक्ति का व्रत तो वे ले ही चुके थे। जूते का काम वे व्यवसाय या व्यापार की दृष्टि से नहीं करते थे। अनन्त दासजी लिखते हैं :

**बड़ो भयो तब न्यारा कीनो बांटे आवे सो बांटि न दीनो**
**राखग्रा बावरो के पछिआरे कछु न कह्यो रैदास विचारै**
**सीधो चाम मोलि लै आवे ताकि पनही अधिक बनावै**
**टूटे फाटे जरवा जोड़े मसकत करि काहुन निहारें।**

आध्यात्मिकता को लक्ष्य करके नित्यानंद लिखते हैं कि वह केवल जीवन-यापन के लिए और साधुओं की सेवा निमित्त कमाते थे :

**नफा मिलै तोसे करै हरि संतन सनमान**
**परम भागवन जन भयो श्री रविदास सुजान।**

पिता से अलग होने पर वह नितांत दरिद्रता का जीवन व्यतीत करने लगे। फिर भी उन्होंने सुकृत नहीं छोड़ा। उनकी इस प्रकार की अवस्था को देखकर उसके परिवार के लोग हंसी उड़ाने लगे। इसका संकेत उन्होंने अपनी वाणी में दिया है :

**दारिदु देखि सभको हंसे ऐसी दसा हमारी**

इतना होते हुए भी उन्होंने अपने सुकृत से मुख नहीं मोड़ा। इस विषय में एक किंवदन्ति प्रसिद्ध है कि एक बार उनकी दरिद्रता को देखकर एक साधु ने उनको एक पारसमणि लाकर दी, तो उन्होंने साधु को पारसमणि छप्पर में खोंस देने को कह दिया। साधु चला गया और 13 मास पश्चात् फिर आया, तो उसने पारसमणि के बारे में पूछा। इस पर रविदास ने उत्तर दिया कि जहां रख गये थे वहीं देख लो। यह गुरु रविदास की निस्पृह जीवन झांकी का प्रमाण है। इन्होंने बिना अर्जित किये धन का उपयोग नहीं करना था जो संत के आत्मोसर्ग का एक साधन था। कहते हैं वह साधु स्वयं भगवान थे।

## सन्त रविदास का चमत्कारिक जीवन

उदार स्वभाव, निस्पृह जीवन और प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण झोंपड़ी में रहकर जूते मरम्मत करते हुए भी रविदास ने समस्त भारत में ख्याति प्राप्त की

थी। कर्मकाण्डी और वर्णाश्रम के पुजारियों को यह बात कहां सहन हो सकती थी कि एक चमार भी ब्रह्मज्ञानी बनकर सद्गुरु की उपाधि धारण करे। लोग उन्हें अपने समय में ही अवतारी पुरुष मानने लगे थे। महान आत्माएं चमत्कारों के द्वारा ही अपने प्राकट्य का संदेश देती हैं। परन्तु ये चमत्कार साधारण तांत्रिक जादू-टोने नहीं होते। इन असाधारण घटनाओं के द्वारा परमात्मा की असीम-शक्ति का प्राकट्य होता है, जिसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। शक्ति का यह प्राकट्य उपयुक्त देह के माध्यम से ही होता है। जिसके अधिकारी संत होते हैं।

भगवत-शक्ति का प्राकट्य यदि असंभव है तो हम संतों को केवल समाज-सुधारक अथवा नसर्गिक और अनियंत्रित कवि कह सकते हैं। संतों की यह विशेषता थी कि उन्होंने असंभव को संभव बना दिया और हठधर्मिता को सत्य के दर्शन करा दिये। इसलिए पंडितों को यह कैसे सहन हो सकता था कि रविदास को अवतार कहा जाय। परिणामतः वाराणसी के पंडों में इनके प्रति विरोध-भावना प्रारंभ हो गई थी। इस विरोध के विषय में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं, जिनका संकेत कभी-कभी रविदास ने अपनी वाणियों में किया है।

रविदास अपनी पर्णकुटी में बैठकर नित्य सत्संग और भजन करने लगे। जब वहां भीड़ इकट्ठी होने लगी तो उन्होंने मानव-समानता के विषय में भी उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया और साथ-साथ स्वामी रामानन्द के क्रांतिकारी विचारों का भी प्रचार प्रारम्भ कर दिया। उनकी ये पंक्तियां इसका प्रमाण हैं :

**जन्म जाति कूं छाड़िकर, करनी जान प्रधान**
**इह्यो वेद को धर्म है—कहै रविदास बखान।**
**ब्राह्मण खतरी वैस सूद, रविदास जनम तें नांहि**
**जो चाहे सुबरन कऊ, पावई करमन मांहि।**
**रविदास जन्म के कारनै होत न कौऊ नीच**
**नर कूं नीच करि डारि है ओछे करम की कीच।**
**जन्मना जायते शूद्र : संस्कारद् द्वीजोच्यते**
**वेदपाठी भवेत बिप्र : ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।**

रविदास समाज-सुधार के लिए सत्य का प्रदर्शन करते रहे। वे मानते थे कि जन्म से शूद्र नहीं मनुष्य पैदा होता है। अतः उसकी पूजा गुणों के कारण होनी चाहिए— जाति अथवा जन्म होने के कारण नहीं:—

**रविदास ब्राह्मन मति पूजिए, जउ होवे गुन हीन**
**पूजहि चरन चंडाल के, जउ होवे गुन परवीन।**

कारण : ब्रह्म को चीन्हे बिना ब्राह्मण कहलवाना दुराग्रह से कम नहीं है।

क्या गोस्वामी तुलसीदास की इस चौपाई में भी यही बात कही गई है ?

**पूजिय विप्र ग्यान गुन हीना**
**नहिन सूद गुन ग्यान प्रबीना।**

ऐसे अनेक प्रमाण हैं कि उस काल में उच्च वर्ण के लोग इस प्रकार की बातें सहन नहीं करते थे। फिर भी रविदास की ख्याति से प्रभावित होकर चित्तौड़ की झाली रानी ने इनको अपना गुरु स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनके खानदान में पहले से ही वैष्णव-भक्ति का प्रचार हो रहा था। इस सम्बन्ध में प्रियदास अपनी परिचई (परिचै) के अन्तर्गत लिखते हैं: *

**बसत चितौड़ मांझ रानी इक झाली नाम**
**नाम बिन कान खाली आनि शिष्य भई है।**
**संग हुते विप्र सुनि छिप्र तन आगि लागी।**
**भागी मति नृप भीर आगें सब गई है।**
**वैसे ही सिंहासन पै आई के बिराजें प्रभु**
**पढ़े वेद बानी पै न आये यह नई है।**
**पतित पावन कीजिये प्रगट आजु**
**गायी पद गोद आई बैठे भक्ति लई है।**

---

* हिन्दी साहित्य का इतिहास।

इस पद से ऐसा प्रतीत होता है कि झाली रानी के उनके शिष्य बनने पर उच्च वर्ण के लोग और भी उग्र हो गये। एक चमार के द्वारा धर्मोपदेश से खिन्न होकर काशी नरेश बीर सिंह बघेले से लोगों ने शिकायत की कि एक शूद्र भगवान की पूजा कर रहा है और धर्म-प्रचार करता है। बीर सिंह बघेले का भी यही विचार था कि योग्य (अधिकारी) को ही धर्म-प्रचार करना चाहिए, क्योंकि धर्म प्रचार केवल वर्ग-विशेष का कर्म था।

**अपूज्याः यत्र पूज्यन्त पज्य पूजाव्यतिक्रमात्**
**त्रयस्तत्र प्रवर्त्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् । (भक्तमाल)**

इसलिए उसने संत रविदास की अधिकारिकता की परीक्षा लेने का निश्चय किया और दोनों पक्षों को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। बहुत बड़ी संख्या में श्रोताओं की भीड़ लग गयी। रविदासजी के तर्कों के सामने पंडितों का पक्ष निर्बल सिद्ध हुआ। पंडितों ने अपना पक्ष कमजोर होते देख यह प्रयास किया कि कोई निर्णय ही न हो सके। ऐसी स्थिति में जनता की इच्छानुसार भगवान का सिंहासन मंगवाया गया और दोनों पक्षों को इस सिंहासन पर विराजमान मूर्ति का आह्वान करने के लिए कहा गया। शर्त यह थी कि जिसके आह्वान पर मूर्ति उसकी गोद में आकर बैठ जायेगी वही पक्ष विजयी घोषित किया जायेगा। साथ-साथ यह भी घोषणा की गई कि पराजित पक्ष विजयी पक्ष को सिंहासन पर बैठा कर नगर में घुमायेगा। पंडितों ने अनेक प्रकार के मंत्रों से मूर्ति का आह्वान किया, परन्तु मूर्ति में कोई स्पन्दन अभिलक्षित नहीं हुआ। इसके पश्चात् रविदास ने भाव-विभोर होकर भगवान की स्तुति की। उनके आह्वान पर मूर्ति अकस्मात उनकी गोद में आ गई। रविदास विजयी घोषित हुए। पंडितों को रविदास को सिंहासन पर बैठाकर नगर में घुमाना पड़ा। रविदासजी का निम्न पद इस घटना का साक्षी माना गया है :

**ऐसी लाज (लाल) तुम बिन कउनु करै**
**गरीब निवाजु गुसईयां मेरा माथे छतर धरै**
**जाकि छोति जगत कउ लागें ता पर तुहीं ढरै**
**नीचहु ऊंच करै मेरा गोबिन्दु काहु ते न डरै**
**नामदेव कबीरु तिलोचन सधना सैनु तरै**
**कहि रविदास सुनुहु रे संतहु हरि जीउते सभै सरै।**

इसके पश्चात् राजा बीरसिंह ने संत रविदास का गुरुवत् सम्मान किया और उठकर चरण-स्पर्श किया और सेवा सत्कार के साथ उन्हें विदा किया। इस घटना के पश्चात् रविदासजी की ख्याति और भी बढ़ गई, यहां तक कि उच्च वर्ण के लोग भी उनको चरण-वन्दना करने लगे। रविदासजी ने प्रभु भक्ति की अद्भुत महिमा बताते हुए उस स्थिति का वर्णन किया है :

**अब विप्र प्रधानतिहि करहिं डंडउति।**
**तेरे नाम सरनाई रविदासनुदासा**
**हरि जपत तेउ जना कंवलासपति**
**तास समतुलि नहीं आन कोऊ**
**जाके कुटंभ के डेढ़ सभ ढोर ढुवंता**
**फिरहिं अजहु बनारसी आस-पास**
**आचार सहित बिप्र करहिं डंडउति**
**तिन तनै 'रविदास' दासानुदास।**

उन्होंने विह्वल होकर यह पद भी कहा है :

**आयो-आयो हौं देवाधिदेव तुम सरन आयो**
**सकल सुख क. मूल जाको नहीं समतूल**
**सो चरन मूल पायो।**
**लियो बिविध जोनि बास जम की, अगम त्रास**
**तुम्हरे भजन बिन भ्रमत फिरयो॥**
**माया मोह काम बिषय लंपट निकाम यह**
**अति दुस्तर दूर तर्यो।**
**तुम्हारे नांव बिसास छांडिए आन आस**
**संसारी धर्म मेरो मन न धीजै**
**रविदास दास की सेवा मानहु देव**
**पतित पावन नाम आजु प्रगट कीजै।**

भक्त पलटुदास ने भी इसका समर्थन किया है :

**नहातें त्रिकाल रोज पंडित अचारी बड़े**
**सदा पट बसतर सूत अंग न लगाई हैं**
**पूजा नैवेद आरती करते हम बिधिविधान**

**चंदन औ तुलसी भली भांति से चढ़ाई है**
**हारे हम कुलीन सब कोटि कोटि कै उपाय**
**कैसे तुम ठाकुर हम अपने हूं न पाई है**
**पलटुदास देखो रीझ मेरे साहब की**
**गये हैं कहां, जब रविदास ने बुलाई है।**

इस कथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि रविदास अपने जीवन काल में ही एक सिद्ध पुरुष और धर्मोपदेशक के रूप में यश प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने कोई योग सम्बन्धी सिद्धियों की साधना नहीं की थी। वे तो केवल भक्ति और सहज-साधना के द्वारा ही सिद्ध हो चुके थे। पूर्ण संत सिद्धियों के पीछे नहीं फिरते और न चमत्कार करने की इच्छा ही रखते हैं। ये सिद्धियां तो आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होने से स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। हठ योग द्वारा प्राप्त सिद्धियां इच्छा-बीज के रहने के कारण विनाश का कारण बन सकती है, संतों की शक्तियां इच्छा-बीज के विनाश होने पर ही प्राप्त होती हैं जिसका वे निश्चित होकर परोपकार में ही उपयोग करते हैं।

झाली रानी के बारे में भी एक वैचित्र्यपूर्ण कथा कही जाती है। झाली रानी द्वारा रविदास को गुरु माने जाने के पश्चात् ब्राह्मण वर्ग में खलबली मच गई कि एक उच्च कुल की रानी ने एक चमार को गुरु मान लिया। इस पर घबराकर झाली रानी ने रविदासजी से अभयदान की प्रार्थना की और उन्हें चित्तौड़ गढ़ बुलाया। उन्होंने कबीर आदि वृद्ध संतों से परामर्श लेकर चित्तौड़ जाने का निश्चय किया।

**आज्ञा लइ कबीर की, पुनि हरि आज्ञा दीन**
**रमन मतौ चित्तौड़ को, जन रैदास तब कीन।**

झाली रानी के निमंत्रण पर जब वह चित्तौड़ गढ़ पहुंचे तो रानी ने उनका भव्य स्वागत किया और उनके आगमन के उपलक्ष्य में एक बड़ा प्रीतिभोज देने का आयोजन किया। ब्राह्मणों ने निमंत्रण तो स्वीकार कर लिया, परन्तु रविदास जी के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करना स्वीकार नहीं किया। इसलिए उनको अलग रसोई बनाने के लिए कच्चा-सीधा दे दिया गया। भोजन तैयार कर जब ब्राह्मण लोग एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने लगे तो, उन्होंने देखा कि हर दो ब्राह्मणों के बीच में रविदास जी बैठे हैं। इस अलौकिक रूप को देखकर ब्राह्मण चकित रह गये। उसके पश्चात ही

गुरु रविदास ने अपनी छाती की त्वचा फाड़कर उसमें स्वर्ण-यज्ञोपवीत दिखाया और अपने को सच्चा ब्राह्मण या ब्रह्मज्ञीन प्रमाणित कर दिखाया। इस सम्बन्ध में प्रियदास जी लिखते हैं :

**गई घर झाली पुनि बोलि के पठायों अहो**
**जैसे प्रतिपाली अब तैसे प्रतिपालिए।**
**आपहु पधारे उन बहुधन पटवारे**
**बिप्र सुनि पांव धारे-सीधौ दे निवारिए**
**करि के रसोई द्विज भोजन करन बैठे**
**द्वैद्वै मधि एक यौ रविदास को निहारिए**
**देखि भई आखैं दोन भाँखें सिख लाखै भए।**
**स्वर्ण को जनेऊ काढ्यो, त्वचा कीनी न्यारिए।**

संत गरीबदास ने इस बात का समर्थन किया है :

**रैंदास रंगीला रंग है, दिए जनेऊ तोड़**
**जग्ग जौनार चोले घेरे, एक रैंदास एक गोड़।**

यह कहानी भक्तमाल में दी गई है। इससे हम कुछ भी निष्कर्ष निकालें, परन्तु उस समय एक अन्त्यज और शूद्र को गुरु और संत मान लेना एक आतंक के अतिरिक्त कुछ नहीं था। इस कथा का वर्णन विलसन महोदय ने भी किया है।

गुरु रविदास के यश को सूचित करने वाली बहुत सी जनश्रुतियां प्रचलित हैं। एक जनश्रुति के अनुसार उनके आश्रम में कथा-कीर्तन हुआ करता था, जिसमें श्रद्धालु भक्तों की भीड़ लगी रहती थी। एक बार एक धनवान सेठ भी कथा सुनने आये। कथा-कीर्तन के उपरान्त भक्तों में उस कुंडी (कठौती) से चरणामृत को लेकर बांटा जाता था, जिसमें गुरु रविदास चमड़ा भिगौते थे। सेठ ने चरणामृत तो ले लिया, परन्तु उसे पीने की बजाय सर के पीछे से फैंक दिया। चरणामृत का कुछ अंश उसके कपड़ों पर पड़ गया। सेठ ने घर जाकर उन कपड़ों को अपवित्र जानकर एक भंगी को दान कर दिया। भंगी ने ज्यों ही उन कपड़ों को धारण किया, उसका शरीर कांति से चमकने लगा और सेठ को कोढ़ हो गया। जब सेठ को ध्यान आया कि उसने किसी सत्पुरुष का अनादर किया है, जिसके कारण उसे यह कष्ट उठाना पड़ रहा है, तो दुखी होकर रविदासजी की शरण में गया। उदार हृदय रविदासजी ने सेठ को क्षमा कर दिया और वह फिर से स्वस्थ हो गया।

एक अन्य कथा के अनुसार रविदासजी एक बार कुम्भपर्व के अवसर पर प्रयाग गये। मेले में दूर-दूर के संत, ब्राह्मण राजा और जनता भारी संख्या में उपस्थित थे। वहां उन्हें उपदेश देते और सम्मान प्राप्त करते हुए देख पंडित लोग चिढ़ गये। पंडितों ने शास्त्रार्थ के लिए उन्हें ललकारा, परन्तु वाद-विवाद में जब उनकी पेश न आई तो, उन्होंने एक शर्त रखी कि दोनों पक्ष शालिग्राम को लेकर गंगा में बहायेंगे। जिसका शालिग्राम गंगा के ऊपर तैरेगा वही सच्चा प्रभु-भक्त सिद्ध होगा। गुरु रविदास के हाथों द्वारा बहाया हुआ शालिग्राम तैरने लगा।

आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद कथा को बढ़ाकर आगे कहते हैं कि गुरु जी ने इस शर्त को मानने से इन्कार कर दिया कि शर्तें लगाना संतों का काम नहीं है। जो सच्चे हृदय से प्रभु की उपासना करते हैं प्रभु उन्हीं का हो जाता है। भगवत पूजा और उपदेश देना केवल ब्राह्मणों का ही काम नहीं है। यह तो प्रभु कृपा से होता है। आप अपने शालिग्राम की पूजा करें, मेरा शालिग्राम तो मेरी पथरी (सिल) ही है। जिस पर मेरी रोजी चलती है। परन्तु जब ब्राह्मण अपनी जिद पर अड़े रहे तो उन्होंने कहा कि अच्छा पहले तुम अपने शालिग्राम को गंगा में डालो फिर मैं अपनी पथरी को गंगा में डालूंगा। सभी शालिग्राम गंगा में डूब गये, परन्तु गुरु रविदास की पथरी पानी में तैरने लगी। इससे उनकी ख्याति और अधिक फैल गई।

इसी संदर्भ में एक दूसरी किंवदन्ती इस प्रकार है—गुरु रविदास एक बार गंगा तट पर बैठे "राम नाम" द्वारा भवसागर से पार होने का उपदेश दे रहे थे। कुछ ईर्ष्यालु व्यक्तियों ने उन्हें नीचा दिखाने के लिए बीच में टोक कर कहा—महाराज 'भवसागर' से पार होने की बात तो दूर रही, जरा एक पत्थर को तो धारा में तैरा कर दिखाओ। कहते हैं कि रविदास जी ने एक पत्थर की शिला उठाई और उस पर "राम" लिखकर जल में छोड़ दिया। लोग चकित रह गये कि शिला सचमुच ही जल के ऊपर तैर रही है। उपर्युक्त घटनाएं किसी-न-किसी रूप में अवश्य घटी होंगी। रविदासजी की अपनी वाणी में उसका संकेत है :

**बापुरा संत रविदास कहै रे**
**ग्यान विचारि चरन चित लावै, हरिकोसरनि रहे रे**
**पाती तोड़ें पूजि रचावें तारन तरन कहै रे**
**मूरति मांहि बसै परमेसुर, तो पानी मांहि तिरै रे**
**झूठी माया जग डहकाया, तीनिताप दहै रे।**

इसी प्रकार की एक और कथा प्रचलित है कि एक बार एक ब्राह्मण किसी पर्व पर गंगा स्नान के लिए जाते हुए रविदासजी के पास अपनी टूटी हुई जूती मरम्मत करवाने आया। उसने जूती मरम्मत करने के बदले में उन्हें एक दमड़ी देते हुए कहा, "भक्त जी चलो गंगा स्नान कर पर्व का पुण्य प्राप्त करें।" रविदासजी ने कहा, "देवता मैं तो गंगा माई के नित्य दर्शन करता हूं और घर बैठे ही गंगा स्नान के पुण्य का लाभ प्राप्त करता हूं। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा', परन्तु फिर भी यह दमड़ी (चौथाई पैसा) मेरी ओर से गंगा माई की भेंट कर देना।" पंडित ने गंगा तट पर रविदास की भेंट चढ़ाने को जैसे ही हाथ उठाया तो गंगा ने मूर्तिमती होकर हाथ बढ़ाया और भेंट स्वीकार कर ली और साथ ही एक रत्न-जटित सोने का कंगन देते हुए पंडित से कहा, "यह कंगन भेंट की स्वीकृति स्वरूप भक्त रविदास को दे देना।" ब्राह्मण यह सब देखकर विस्मित रह गया, परन्तु उसके मन में बेईमानी आ गई और उसने लौटकर यह कंगन एक बनिये के हाथ बेच दिया। किसी तरह इस अद्‌भुत कंगन की बात राजा के कान तक पहुंच गई। राजा ने जब यह कंगन मंगवाया तो उसकी अलौकिकता को देखकर चकित रह गया—उसने यह कंगन खरीदकर अपनी रानी को भेंट कर दिया। रानी ने यह कंगन पहन लिया और प्रसन्न होकर उसी प्रकार के दूसरे कंगन के लिए हठ कर बैठी। राजा ने कंगन बेचने वाले ब्राह्मण को दरबार में बुलाया तो ब्राह्मण ने सारी कथा कह डाली। तब राजा ब्राह्मण को लेकर रविदास जी की कुटिया में गया और विनीत भाव से रानी के हठ की बात कहकर वैसे ही एक कंगन के लिए प्रार्थना की गुरु रविदास तो सभी कुछ जानते थे। उन्होंने अपनी कुंडी में हाथ डाला तो कंगनों का एक गुच्छा बाहर आ गया। राजा ने एक कंगन चुन लिया जिसमें गंगा का रेत लगा हुआ था। रविदास जी के जीवन में इस प्रकार की घटनाएं घटती रहीं थीं। उसी से आकृष्ट होकर भारत के सभी क्षेत्रों से साधु-संत और श्रद्धालु-भक्त उनके दर्शन करने और उनके उपदेशों का अमृत-पान करने के लिए आने लगे। झाली रानी भी संभव है इसी प्रकार की ख्याति सुनकर बनारस आई हों।

(चमत्कारों के साथ कुछ भ्रम और जनश्रुतियां सदा जुड़ी रही हैं, इस विषय में व्यक्तित्व प्रकरण में भी कुछ प्रकाश डाला गया है)

## रविदास का समकालीन और परवर्ती सन्तों में स्थान

रविदास के महान व्यक्तित्व, उदार विचार एवं भक्ति-साधना से तत्कालीन जन-साधारण ही नहीं अपितु सैन, धन्ना और नानक जैसे विख्यात संत और साधक भी प्रभावित थे। इन संतों ने मुग्ध होकर रविदास की भक्ति की महानता का गुण-गान किया है। इनकी परस्पर भेंट, विचारों का आदान-प्रदान, सत्संग, प्रवचन आदि समय-समय पर होता रहा है। सत्संग को संतों ने साधना का एक प्रमुख साधन माना है। संतों की मंजिल एक थी और वे एक साथ आनन्द के गीत गाते-गाते उस तक पहुंचाना चाहते थे। जिन संतों ने पहले कष्ट सहन कर रास्ता दिखा दिया उनके पद चिन्हों पर चलकर आगे आने वाले संत भी कृतार्थ हो गये। संतों का गुरु पद इसी आधार पर निर्धारित होता है।

संत कबीर संत मत के प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनकी प्रतिभा, ज्ञान और उनकी अभिव्यक्ति चमत्कारपूर्ण थी। कबीर ने रविदास जी की साधना की प्रशंसा की है

**साधुन में रविदास संत है, सुपच ऋषि सो मानिया।**

**हिन्दु-तुर्क दुई दीन बने हैं, कछ नहीं पहिचानिया।**

उधर रविदासजी ने भी उच्च कोटि के संतों में कबीर की भूरी-भूरी प्रशंसा की है:

(1) **तिहुंरे लोक परसिद्ध कबीरा।**

(2) **नामदेव कबीर तिलोचन, सधना सैनु तरै।**

(3) **हरि के नाम कबीर उजागर**
**जनम-जनम के काटे कागर।**

(4) **निरगुण के गुण देखो आई**
**देही सहित कबीर सिधाई।**

इन पंक्तियों से पता चलता है कि कबीर साहब के अन्तिम काल में रविदास जी अपनी साधना में निमग्न थे और उनके सामने ही कबीर का अन्तर्धान हो चुका था। कबीर पहले सिकन्दर का विरोध करने के कारण और फिर अपने अन्तिम चमत्कार के कारण बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। संत लोग एक दूसरे की आलोचना नहीं करते—महान होते हुए भी कबीर रविदास जी की प्रशंसा करते हैं।

जबकि रविदास जी उन्हें गुरु समान कहकर पुकारते हैं। कबीर साहब ने गुरु रविदास को "साधुन में संत" ही नहीं कहा, उन्होंने उन्हें ध्रुव, प्रह्लाद और शुकदेव जसे उच्च कोटि के भक्तों में गिनाते हुए उनकी महानता का परिचय दिया है :

**सुख सागर में आय के मत जा रे प्यासा ।**
**अजंहु समझ नर बावरे जम करत निरासा ।।**
**निरमल नीर भरे तेरे आगे, पीले स्वांसों स्वासा ।**
**मृग-तृष्णा जल, छाड़ि बावरे, करो सुधा रस आसा ।।**
**ध्रु, प्रह्लाद, शुकदेव पिया, और पिया रविदासा ।**
**प्रेमहि संत सदा मतवाला एक प्रेम की आसा ।।**
**कहै कबीर सुनो भई साधो मिट गई भय की बासा ।।**

भक्त सैन का भी एक पद दृष्टव्य है :

**वेदहि झूठा शास्त्रहि झूठा भक्त कहां से पछानी**
**ज्या-ज्या ब्रह्मा तू हो झूठा, झूठो साके न मानो ।**
**गुरुड़ चड़े जब विठग आया साच भक्त मेरे दोहो**
**धन्य कबीर धन्य रोहिदासा, गावै सना न्हावो ।**

इसमें सैन भक्त ने कबीर और रविदास की भक्ति की प्रशंसा की है। भक्त सैन कृत–'कबीर अरु रैदास संवाद' की रचना सन् 1503 में मानी गई है। संभव है यह संत अन्नतदास की लिखी हुई हो। डा० राम कुमार वर्मा के अनुसार यह कहानी 'सर्वगोटिका वानी नौ हजार' से ली गई है जिसमें श्री अनन्तदास की लिखी हुई कबीर साहब की परिचई भी है। इसमें प्रश्नोत्तर के रूप में दोनों संतों की ब्रह्म के निराकार तथा साकार भक्ति की चर्चा है। इसमें कबीर और रैदास का वैष्णव सम्प्रदाय से निकट संबंध तथा रामानुज से रामानन्द तक का विशिष्टाद्वैत-वाद परंपरा का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। गुरु रविदास के जीवन का अधिकतर परिचय भक्तमाल और अन्नतदास की परिचई में ही मिलता है। रामानन्दी संप्रदाय की इस पर छाप है। कबीर निर्गुण-निराकार की उपासना करते थे और रामानन्द के शिष्यों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली और ख्याति प्राप्त थे। इसलिए भक्तमाल के

लेखक और संत अनन्तदास उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। परन्तु इसके साथ ही उनको अपनी सगुण साकार भावना का प्रतिपादन भी करना था। अतएव इसमें रविदास जी कबीर के निर्गुण-निराकर के विचारों से एक बार सहमत तो हो जाते हैं, किन्तु सगुण-साकार के बिना उनका काम नहीं चलता। रविदास जी की जो भी वाणियां गुरुग्रन्थ साहब में दी गई हैं वे सभी यद्यपि निर्गुण-निराकार का प्रतिपादन करती हैं, तथापि उनमें भी लोग सगुण की भावना का दर्शन करना चाहते हैं :

**निरगुण का गुण देखो आई**
**देह सहित कबीर सिधाई।**

संत अनंतदास अपनी परिचई में लिखते हैं कि जब झाली रानी को शिष्य बनाने का ब्राह्मणों ने विरोध किया और रविदास जी के द्वार पर धरना दिया, तो बांधवगढ़ से सैन भक्त भी उन्हें समझाने आये थे। रविदास जी ने कबीर से सम्मति मांगने के लिए उनके हाथों संदेश भेजा था। ये पंक्तियां इसका प्रमाण हैं :

**भगत एक रैदास पठायो, सो कबीर को बूझन आयो**
**बांमन पोलि हमारी परिहैं। देहु मतौ हम कैसे करिहैं।**

इसी प्रकार धन्ना भक्त ने निम्नोक्त पद में नामदेव के साथ कबीर, रविदास और सैन के भक्ति-भाव और प्रसिद्धि से प्रभावित एवं प्रेरित होकर भक्ति की ओर उन्मुख होने की बात कही है :

**गोबिंद-गोबिद संगि नाम देउ मन लीणा**
**आठदाम को छीपड़ो होइओ लाखीणा**
**बुनना तनना तिआगि प्रीति चरन कबीरा**
**नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनिज गहीरा**
**रविदासु ढुवंता ढोर नीति तिन्हि ति-आगी माइआ**
**परगट होइआ साध-संगि हरिदरसन पाइआ।**
**सैनु नाई बुत कारिआ ओ-हु घरि-घरि सुनिआ**
**हिरदे बसिआ पारब्रह्म भगता मंहि गनिआ**
**इह बिधि सुनिकै जाटरो उठि भगति लागा**
**मिले प्रतखि गुसइयां धन्ना बड़ भागा :**

आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद के अनुसार रविदास जी की भेंटवार्ता गुरुनानक से बनारस में हुई थी। कुछ विद्वान यह भेंट-वार्ता अयोध्या में हुई मानते हैं। दोनों संतों के इस साक्षात्कार का समय स० 1555 वि० या सन् 1495 माना गया है। इस समय रविदास जी 122 वर्ष के थे। गुरु नानक देव की उदासी या देशाटन का काल सन् 1497 से 1522 ई० तक माना गया है। उसी समय गुरु नानक का कबीर के साथ मिलन संभव है। संभव है कबीर उस समय वाराणसी छोड़कर मगहर चले गये हों और वे वहीं उनसे मिलने गये हों। गुरु ग्रंथ साहब में रविदास जी की प्रशंसा लिखी गई है, परन्तु वह गुरु नानक द्वारा न होकर गुरु रामदास और गुरु अर्जुन देव द्वारा रचित है।

**रविदास चमारु उस्तति कर हरि कीरोति नि मेख इक गाई,**
**पतित जाति उत्तम भया, चारि बरन पए पगि आई**
**रविदास ध्याय प्रभु अनूप, गुरुदेव "नानक" गोबिन्द रूप।**

परवर्ती संतों न भी रविदास की खूब प्रशंसा की है। देखिए :

(1) **रोहिदास चमार सब कुछ जाने कठोरे गंगा देख**

**—एकनाथ**

(2) **जन रविदास नीच कुल ऊंचा, ताकूं तीन लोक सब जाणरे**
**जन 'हरिदास' वै निरमं देख्या, तातै उलटी ताणैरे।**

**—हरिदास**

(3) **अमृत राम रामायण पीआ, ताथ अमर कबीरा कीया**
**रांम रांम कहि राम संमांन। जन रविदास मिले भगवाना।**

**—दादू**

(4) **निवत्ति ज्ञानदेव सोपान चांगाजी, मेरे जो के है जी नामदेव**
**नागाजन मित्र नरहरि सनार, रविदास कबीर सगे मेरे'**

**—तुकाराम**

(5) राम रस पीयारे पीना ही आनंद होय
सौंझे सैन पियौ रविदासा मीरा प्रेम बड़ाई रे ।

—सेवादास

(6) कबीर नामदेव पीया रविदासा, भवसागर की काटी पासा।

—कल्याणदास

(7) जन रविदास साधि सूरा तन, बिप्रन मार मचाई रे ।

—छोटे सुन्दरदास

(8) भेंटो जब रविदास कूं लीन्हो भुजा पसार
हरि लीला रीझै नहीं अचरज कहों अपार ।

—दयाबाई

(9) पीया धना सैन रविदासा सुखदेव पीयो अघाई
अमर गुरू पीयो हुए निरभं अगम सुरति ठहराई ।

—दसरसन दास

(10) पीया जन रविदास पुनि सुमरे सुखदाई रे
पीया पियाला प्रेम का उर तपन बुझाई रे* ।

—रूप दास जी

## संत रविदास का व्यक्तित्व

संत रविदास का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उच्च वण और द्विज जाति के विद्वान लोग भी उनका सत्कार करने लगे थे। यह उनक अपन ही कथन से सिद्ध होता है :

**आचार सहित विप्र करहिं डंडउति ।**

दृढ़ संकल्प, आत्मानुभव, भगवान में अटूट भक्ति और विश्वास के कारण उनमें हीन- ावना लेश मात्र भी नहीं थी । वह बेधड़क अपना पैतृक काम करते और बेधड़क ही भजन-कीर्तन और प्रवचन करते थे :

रविदास ही निज हत्यहि राखौ रांबी आर
सुकिरित ही मम धर्म है तारैगा भवपार ।

*गुरु रविदास (आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद) से साभार उद्धृत ।

## व्यक्तित्व

दया, दान, भक्ति और मानव-सेवा ही सुकृत हैं तथा काम, क्रोध, मद, लोभ, इर्ष्या और द्वेष ही दुष्कृत हैं। मृदु-स्वभाव, महान-विचार, आत्मानुभव आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के कारण उनके अन्दर एक ऐसी प्रतिभा जाग्रत हो चुकी थी कि जो भी उनके संपर्क में आता था मंत्र-मुग्ध हो जाता था। उनके विभव और चमत्कारों के कारण जाति-अहंकार का रंग फीका पड़ गया था। शक्ति, त्याग और स्तेय के कारण उनके मुख-मंडल की आभा आलौकिक थी। वे सीधा-सादा जीवन व्यतीत करते थे। हाथ का कमाया खाना, थोड़े में संतुष्ट रहना, सुख-दुःख में मनःस्थिति को समान रखना आदि उनके स्वभाव के अंग बन चुके थे। सत्य, अहिंसा, दया, भक्ति और सेवा भी उनके स्वभाव में सम्मिलित थीं। सच्ची कमाई और सदाचार के साथ उपार्जित धन में से साधु-संतों की सेवा करना और दीन-हीनों से प्रेम उनकी स्वाभाविक वृत्तियां थीं। उनकी यह साखी इसका प्रमाण है :

**सत्त संतोष अरु सदाचार जीवन के आधार**
**रविदास भए नर देवते जिन त्यागे पंच विकार।**

पंच विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद के त्यागने, संतोष और सदाचार का जीवन व्यतीत करने तथा सत्य का सेवन करने से मनुष्य देवत्व को प्राप्त हो जाता है। संत सदा इन विचारों से तादात्मय रखते हैं। इसलिए उनकी आत्मानुभूति इतनी उच्च हो जाती है कि वे स्वयं-सिद्ध हो जाते हैं। संतों ने कभी भी यौगिक-साधना के द्वारा सिद्धियां प्राप्त करने की कामना नहीं की, प्रत्युत भक्ति और भजन के द्वारा परमात्मा में अपने को लीन करके उस सर्वशक्तिवान प्रभु की शक्तियों का रसास्वादन किया, जिसमें सभी ऋद्धि-सिद्धियां समाहित हैं। इस अपार कोश का उन्होंने कभी भी चमत्कार के रूप में दुरुपयोग नहीं किया। आत्मसमर्पण की वृत्ति के कारण इसे वह प्रभु की धरोहर समझकर चमत्कार से दूर ही रहे। उन्होंने जो भी किया प्रभु इच्छा से किया अथवा जो कुछ हुआ वह प्रभु ने किया, वे तो केवल निमित्त मात्र थे।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशुत्व के स्वाभाविक गुण हैं। उनको नियंत्रित किये बिना कोई संत नहीं बन सकता। उनका निरोध उन्होंने अपनी कामनाओं को भगवान को समर्पित करके किया। वे गृहस्थ रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त रहते थे। जल के कमल की भांति उनका स्वभाव था। वे भगवान की अनुकंपा के सहारे ही रहते थे जो आन्तरिक और बाह्य दोनों शत्रुओं से रक्षा करने में समर्थ है। रविदासजी अत्यंत विनम्र थे। कुछ लोगों का विचार है कि नीच जाति में पैदा होने के कारण उनका

इस प्रकार का स्वभाव बन चुका था। परन्तु यह असत्य है। उनका आध्यात्मिक उत्थान तो प्रभु के सामीप्य से पहले ही हो चुका था, फिर हीन भावना का क्या प्रश्न रहा। स्वयं उन्होंने कहा है :

> **नीचे से प्रभु ऊंच किये हैं कहि रविदास चमार,**
>
> **सर्वोऽयम ब्राह्मणे लोके वृतैन तु विधीयते**
>
> **दत्ते स्थितस्तु शुद्रोअपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति।**
>
> **(चरित्र से सभी ब्राह्मण बन सकते हैं अंत्यज भी**
>
> **–वृत्येन-चरित्रबल से।)**

हीन भावना भक्तिहीन और अविश्वासी लोगों के स्वभाव में पैदा होती है। अडियार और अलवार तो अधिकतर उच्च वर्ग के लोग ही थे, परन्तु उनमें तुच्छता का भाव आत्महीनता के कारण नहीं था, प्रत्युत अंहकार हीनता के कारण था। संतों का विशेषकर रविदास का अपने को औछा-नीच-दीन-हीन और बुद्धिहीन आदि कहना उनकी विनय और विनम्रता की पराकाष्ठा और भक्ति की चरमोन्नति के कारण ही था। संत-स्वभाव के अनुरूप उन्होंने अपने से पहले आने वाले और समकालीन सभी संतों के प्रति सद्भावना प्रकट की है, क्योंकि वैष्णव-सम्प्रदाय में संत और वैष्णवजन की सेवा भगवान के बराबर मानी गई है। बचपन से ही उनकी साधु-सेवा की ओर प्रवृत्ति थी। उन्होंने किसी की भी कटु आलोचना नहीं की थी; वे सीधे-सादे वैष्णव भक्त थे, कबीर, नामदेव आदि की भांति क्रांतिकारी नहीं थे। कबीर आदि संतों ने समाज की अधिकारपूर्ण प्रताड़ना की थी। वास्तव में जिस आलोचना की उस समय आवश्यकता थी उसके अभाव की पूर्ति ही उन्होंने की थी।

## सेवाभाव

वैष्णव परंपरा के अनुसार मानव के लिए ही नहीं जीवमात्र पर दया और उसकी सेवा को भक्ति का आधार माना गया है। उसके बिना भक्ति के फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जिसके मिलन के लिए भक्त निरंतर प्रयत्न करता है उसकी ज्योति हर जीव में व्याप्त है। इसलिए उसकी जीवों पर दया और उनकी सेवा प्रभु की सेवा है, यही भक्ति आन्दोलन का प्रमुख सन्देश था।

इसके अलावा वैष्णवजनों और संत-महात्माओं की यथाशक्ति सेवा करना और उनका सत्कार संत का परम कर्तव्य है। रविदास ने तो इसके लिए जीवन अर्पण कर दिया था :

**करूं दंडवत चरण पखारूं**
**तन-मन-धन उपरि वारूं ।**

रविदासजी के पिता जूतों का अच्छा व्यापार करते थे। व्यापार में अधिक-से-अधिक धन कमाने की तृष्णा और प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। रविदासजी को इस प्रकार के व्यापार में अधिक रुचि नहीं थी। पिता द्वारा घर से निष्कासन के पश्चात, उन्होंने घर के पिछवाड़े एक झोंपड़ी डाल ली थी और उसी में जूते बनाने और उनकी मरम्मत करने का काम करते थे। मेहनत और ईमानदारी से जो भी लाभ मिलता था उससे वे अपने परिवार का और अपना पेट पालते थे तथा साधु-संतों की सेवा करते थे। इस प्रकार वे श्रम करके हाथ की कमाई का ही उपभोग करते थे। उन्हें मुफ्त का माल नहीं चाहिए था। निम्नांकित पंक्तियों से यह स्पष्ट है :

**स्रम कह ईसर जानि के जउ पूजहि दिन रैन**
**रविदास तिन्हीह संसार महु सदा मिलहि सुख चैन ।**

तत्कालीन जाति प्रथा की प्रबलता के कारण रविदासजी का पाठशाला में पढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं था—यहां तक कि अक्षर-ज्ञान भी संभव नहीं था। इसीलिए उन्होंने केवल हरि की पाठशाला में प्रेम-अक्षर ही पढ़े :

**चलि मन हरि चटसाल पढ़ाऊँ**
**पंडित मुनि कोई ढिग न बठावै ।**

परन्तु चिन्तन, मनन और सत्संग के द्वारा जो उनको सत्य का साक्षात्कार हुआ था उससे किसी भी शास्त्रसम्मत ज्ञान की तुलना की जा सकती है। उन्हें धर्मशास्त्रों के तत्व का पूरा ज्ञान था यहां तक कि वे इस्लाम के प्रचलित आचार-विचारों और निष्ठाओं से भी पूर्णतः परिचित थे। आत्मा स्वयं संवेद है—आत्मानुभूति के लिए पुस्तकीय ज्ञान बाधक ही हो सकता है सहायक नहीं। भक्ति के द्वारा आत्मदर्शन से जो उन्हें सहज की प्राप्ति हुई उसका लोहा विद्वान भी मानते हैं।

**बटुक बीज जैसा औंकार परस्यो तीन लोक विस्तार**
**जहां से उपजा तहां समाय सहज सुन्न में रह्यों तुकाय ।**

रविदास अपने पदों को गा-गा कर प्रवचन किया करते थे। उस समय की भक्ति-परंपरा

के अनुसार भाव और हृदय के उद्‌गार काव्य और संगीत के द्वारा ही प्रदर्शित किये जाते थे। हाथ में वीणा लेकर भक्ति-रस की संगीत लहरी को प्रवाहित करते नारद का स्वरूप इसी ओर संकेत करता है। अडियार और अलवार भी अपने इष्ट के प्रेम में मधुर संगीत के साथ गाते हुए घूमते रहते थे। बौद्धों और जैनों के निरीश्वर-वाद और शंकराचार्य के नीरस ज्ञान-ध्यान को इसी कारण उन्होंने सहज में ही स्थानान्तरित कर दिया था। नामदेव, कबीर आदि भी उसी प्रकार के भक्त थे। सूफियों की कव्वालियां भी लगभग उसी प्रकार का ही भाव प्रदर्शित करती हैं।

संत रविदास निष्काम भक्त थे। उनके हृदय में कोई भी अभिलाषा नहीं थी। प्रभु-भक्ति में ओतप्रोत भक्त की एक ही अभिलाषा कही जा सकती है कि वह भगवत प्रेम का निरंतर रसपान करता रहे। इसलिए भक्ति स्वयं ही उद्देश्य है। यह वह प्यास है जो कभी नहीं मिटती और जब मिटती है तो प्यासा ही नहीं रहता। उसी के द्वारा चरमानन्द का अनुभव होता है। इच्छा और तृष्णा भक्ति में बाधक होती हैं :

**जब हम होते तब तू नाहीं अब तूही मैं नाहीं,**
**अनल-अगम जसे लहर मइओदाधि जल केवल जल माही**
**भगति चितहुं तौ मोह दुख व्यापहि**
**मोह चितहुं तौ मोरी भगति जाई**
**उभय संदेह मोहि रैनदिन व्यापहि**
**दीनदाता करूं कवन उपाई।**

उनकी इसी निष्काम भक्ति की परवर्ती संतों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है रज्जब ने कहा है, "आदि मिली जयदेव कूं रैदास समानी।"

संत रविदास की पद-रचना भगवत-भक्ति की मुक्त और स्वाभाविक अभिव्यक्ति थी। अतः काव्य और छंद शास्त्र के ज्ञान की बात करना निरर्थक है। उनके प्रेम और भक्ति के भाव सहज और संगीतमय थे, जिनमें शास्त्रीय कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं थी। उन्होंने लोकभाषा को माध्यम बनाया था और उनकी भाषा सरल और लोक ग्राह्य थी। उन्होंने गूढ़ से गूढ़ भावों को भी बड़ी सहज और सरल रीति से पेश किया था। नाभादास ने इसी कारण उनकी प्रशंसा की है।

कवि होने के साथ-साथ रविदासजी क्रान्तिकारी और मौलिक विचारक भी थे। कुछ लोगों ने उन्हें वेदानुगामी भी कहा है, परन्तु ऐसा नहीं है। परंपरागत विचारों की धरोहर से कोई भी विचारक पूर्णयता मुक्त नहीं हो सकता। उन्होंने लोक में जो कुछ परंपरागत प्रचलित देखा उसको सत्य की कसौटी पर परिमार्जित कर प्रस्तुत किया। जो उन्हें ठीक लगा उसका उन्होंने निर्भय होकर प्रचार किया। भक्ति-ज्ञान तो पुरातन काल से चला आ रहा था, किन्तु सत्ताधारी समाज की संकुचित भावना ने भेद-भाव उत्पन्न कर रखा था जिसे अडवारों, नामदेव और कबीर ने दूर करने का प्रयत्न किया था। गीता और भागवत में इष्ट-साधना और वर्ण-व्यवस्थानुसार कर्म पर अधिक बल था। इन संतों ने परमात्मा से सीधा संबंध जोड़ने के लिए नामस्मरण, आत्मसमर्पण और दीन भावना का सहारा लिया। इन्होंने एकेश्वरवाद, समानता और भक्ति के लिए सभी के समान अधिकार आदि का समर्थन किया और बाह्याचार तथा कर्मकाण्ड को निरर्थक घोषित कर दिया।

रविदास स्वभावत: मानवतावादी थे। आजकल के समाज सुधारकों की तरह प्रचारक नहीं थे। इसलिए भक्ति के द्वारा प्रज्ञा और चेतना की पूर्ण अधिकारिता के प्राप्त होने के पश्चात भी समाज की दीनहीन-अवस्था, दुर्दशा और भेद-भाव उनकी आंखों से ओझल नहीं हो सके थे। उन्होंने अपने अनेक पदों में अपनी शोषित और दलित जाति को याद किया, जिससे उनका समदर्शी परमात्मा उनका उत्थान कर यह प्रमाणित कर दे कि उनके कुल या जाति के लोग निरीह प्राणी नहीं हैं, उनमें भी परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं, भगवान के दरबार में सभी का भाईचारा है, सभी बराबर हैं। ये भेद-भाव मानवकृत होने के कारण झूठे और अमान्य हैं।

उन्होंने कहा था भगवान भक्ति में है। दरिद्रता और सामाजिक दीनता भक्ति में सहायक हो सकते हैं—बाधक नहीं, क्योंकि भगवत प्राप्ति अंहकार को छोड़े बिना नहीं हो सकती और ज्ञान, विद्या, धन और भक्ति अंहकार को बढ़ाने में सहायक हो जाते हैं। उनके स्वभाविक उद्‌गार केवल सत्य का प्रतिपादन करते थे, जिससे समाज सत्यमार्ग का अनुसरण कर सके। यही स्वाभाविक सुधारक प्रवृत्ति है। उनके चरित्र-बल और आत्मबल के द्वारा ही मानवतावादी विचारों का प्रचार हुआ। वे गृहस्थ होते हुए भी सांसारिक मोह-माया से दूर रहे परन्तु करुणावश सामाजिक दु:खों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसी कारण उन्हें कट्टर-पंथियों से संघर्ष करना पड़ा और अन्तत: जीवन का बलिदान देना पड़ा, क्योंकि वह भगवान की सत्ता को हर एक प्राणी के भीतर अनुभव करते थे।

**सभमंहि एकु रामहु जोति सभ कहु एकहु सिरजन हारा**
**रविदास रामहि सभन मांहि ब्राह्मण हुई के चमारा।**

वे प्रभु-परायण, जातियता के कट्टर विरोधी, मानव समानता के कट्टर समर्थक, सर्वहितकारी, स्वतंत्र चिन्तक और उदार संत थे। संत प्रवर कबीर साहब ने उन्हें 'साधुन में रविदास संत' कहकर उनकी महानता को प्रमाणित किया है।

## वाणी सौष्ठव

संत रविदास की जो वाणियां या पद प्राप्त हैं, उनमें केवल उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति है। चेतना के इसी धरातल को छूती हुई कभी-कभी व समाजिक भावनाएं भी सामने आ जाती हैं जो संत के भौतिक जीवन में कांटे की तरह कसकती रहती हैं। उन्हीं का रूप आध्यात्मिक जीवन में करुणामय हो जाता है, क्योंकि संत दूसरों का दु:ख अपना दु:ख समझने लगता है। ऐसी अवस्था में उसके उद्‌गार और भी अधिक भावुक हो जाते हैं और प्रताड़ना का रूप भी धारण कर लेते हैं। भाव आलोचनात्मक और रचनात्मक दोनों धाराओं के बीच में तैरते रहते हैं।

संत रविदास मूलत: भक्त थे—कवि या साहित्यकार नहीं थे। उनका उद्देश्य साहित्य सृजन नहीं था। उनकी रचनाएं तो उनकी प्रेमानुभूति और रहस्यानुभूति की सहज अभिव्यक्ति थीं। यह उनकी उद्वेलित अंतश्चेतना ही थी जो कभी-कभी अटपटी होकर भी अभिव्यक्त हुई, किन्तु फिर भी उनके भाव स्पष्ट और सुग्राह्य थे। जिस उद्देश्य से उनकी अंतश्चेतना शब्दों में स्पन्दित हुई वही उनकी वाणी है। अतएव काव्य शास्त्रीय आधार पर उसका आलोचनात्मक विवेचन करना उचित नहीं। वह तो ऐसे साहित्यकार थे, जिनका अनुसरण करके नए शास्त्र बनाये जा सकते हैं।

संत रविदास की वाणी की जो विशेषता है, उसे परवर्ती संतों, भक्तों विद्वानों और आलोचकों आदि सभी ने स्वीकार किया है तथा उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। रविदास जी एक अत्यंत विनीत, राग-द्वेष रहित, खंडन-मंडन प्रवृत्ति से विहीन, उच्च कोटि के संत, विचारक और कवि थे। उनकी वाणी सरल और सुबोध होती हुई भी क्रान्तिकारी विचारों और उत्कट भक्ति-भावना से पूर्ण थी। संत नाभादास ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है :

**संदेह ग्रंथि खंडन निपुण बानि विमल रविदास की**
**सदाचार स्रुति सास्त्र बचन अबिरूद्ध उचारयो।**

उनका वर्ण्य-विषय विशद और उदात्त तो था ही साथ में, अभिव्यक्ति भी उत्कृष्ट थी। उनकी शैली आडम्बरहीन थी। वियोगी हरि उनकी वाणी को महत्व देते हुए लिखते हैं, "महात्मा रैदास की बड़े ऊंचे घाट की वाणी है। प्रेम परा-भक्ति का कई शब्दों में बड़ा ही विशद निरूपण उन्होंने किया है। समता और सदाचार पर बहुत बल दिया है। भक्ति-रस का ऐसा सुंदर परिपक्व अन्यत्र कम देखने को आता है। खंडन-मंडन की ओर उनका ध्यान नहीं था। भाषा ने भी भाव का मूक अनुकरण किया। अनेक जनपदों के शब्दों का उनकी वाणी में समावेश हुआ, फिर भी एक रस ही सर्वत्र प्रवाहित दीखता है।"

डा० नगेन्द्र ने हृदय की सहज अनुभूति को शास्त्रों में प्रतिपादित नीरस सिद्धांतों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा है। इस आधार पर गुरु रविदास को एक उत्कृष्ट कोटि का कवि सिद्ध किया जा सकता है। इस विचार की पुष्टि करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "आडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्मसमर्पण के क्षेत्र में रविदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निसंदेह रविदास के भजन उस गुण से समृद्ध हैं। सीधे-सादे पदों में संत कवि के हृदय के भाव बड़ी सफाई से प्रकट हुए हैं और वे अनायास हृदय को प्रभावित करते हैं। उनका आत्म-निवेदन, दैन्य-भाव और सहज-भक्ति इसी श्रेणी के भाव पाठक के हृदय में संचारित करते हैं। इसी को काव्य में प्रेषणीयता का गुण कहते है।"

उनकी वाणी शब्दों और साखियों के रूप में मिलती है। साखियां उसके साक्षात ज्ञान का निरूपण हैं, वे दृष्टा हैं। उन्होंने जो कुछ अनुभव किया या ज्ञान चक्षु से देखा, वह अटपटी भाषा में अभिव्यक्त कर दिया। इसलिए साखियां साक्षात्कार कराती हैं और शब्द उस साक्षात्कार का विवेचन करते हैं, जिनसे रस की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। उनके दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक नैतिक और अर्थिक विचारों की एक स्पष्ट और पूर्ण रूपरेखा उनकी वाणी में मिलती है। उन्होंने अपनी वाणी में भारतीय दर्शन के गूढ़ विचारों को सहज में ही अभिव्यक्त किया है। देखिए :

**माधौ भरम कैहुना विलाई, तातै द्वैत भाव दरसाई**
**कनक कुण्डल सूत पट जुदा, भुजंग भ्रम जैसा**
**जल तंरग पाहन प्रतिमा ज्यों, ब्रह्मजीव द्रुति ऐसा**

विमल एकरस, उपजै न बिनसे उदै अस्त दोऊ नाही
विगताविगत, गतागत नाहीं वस्तु बसै सब माहीं ।
निश्चल-निराकार अति अनुपम निरभै गति गोबिन्दा
अगम-अगोचर अक्षर अतरथ, निर्गुण अति आनन्दा ।
सदा अतीत ज्ञान विवर्जित, निर्विकार अविनाशी
कहत रैदास सहज सुन्न सत जिवन मुक्ति निधि कासी ।

## साहित्य

उनकी वाणी में विचारों का एक अद्भुत सामंजस्य है, जिसका आंकलन परंपरागत दृष्टि से नहीं हो सकता। इसी प्रकार उनके काव्य और साहित्य का मूल्यांकन भी परम्परागत शास्त्रीय दृष्टि से नहीं हो सकता। जिस प्रकार उनके विचारों में मौलिकता है, उसी प्रकार उनके साहित्य में भी मौलिकता है। साहित्य में पहले कथ्य होता है और फिर उसकी अभिव्यक्ति। कथन और कथ्य (और वह भी अवर्णनीय का कथन) ही विचारधाराओं की भिन्नता का कारण है। उसी से अनेकों संप्रदाय बने हैं। गहन और रहस्यपूर्ण विचारों की सहज ग्राह्य भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति ही काव्य का सबसे बड़ा गुण है। कवि की भाव-भंगिमा के संबंध में अनेक शास्त्रीय मत बने है। भावों की दृष्टि से भक्ति स्वयं एक रस है और भक्तिभाव ही भाव है। वह शृंगार और शांत नामक शास्त्रीय रसों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। परन्तु ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। ये एक रस की दो धुरियां हैं, जिन्हें निरति और सुरति कहते हैं; परन्तु इसमें भक्ति रस की पूर्ण भावना समाहित नहीं हो सकती ।

आराध्य के लिए अटूट प्रेम (सुरति) विरह की विकलता वैराग्य (निवृत्ति-निरति), संतोष (त्याग), और निर्वेद (विचार शून्यता) भक्ति में समाहित हैं। भक्ति के अपने ही संचारी भाव हैं। शरणागति, दैन्य और अमर्ष भक्ति के संचारी भाव हैं। शरणागति, भय से मुक्ति, आत्मसंतोष आदि की अनुभूति और हर्षमिश्रित आह्लाद का भाव सदा भक्ति में विद्यमान रहता है और साथ-साथ एक आलौलिक आनन्द का भाव भी छिपा रहता है, जो करुणा और वीभत्स रसों से भी प्राप्त होता है।

भक्ति शरणागति और प्रपत्ति की भावनाओं में दैन्य और कार्पण्य का भाव भी रहता है, जिसमें आत्म-समर्पण और प्रभु की दया का सहारा लेकर अपने को भजन के अलावा सभी क्रियाओं से निश्चेष्ठ बनाया जाता है। अमर्ष में क्षोभ रहता है और शरणागति में निश्चितता और आत्मसंतोष रहता है। निर्वैयक्तिक रूप से सोचना ही हमें अभीष्ट है।

संत काल परिवर्तन का काल था इसलिए उसमें भाषा, भाव और शैली में परिवर्तन आना आवश्यक था। गुरु रविदास के साहित्य में कथ्य और कथन दोनों की दृष्टि से पर्याप्त सौंदर्य विद्यमान था और वह कथन भक्ति-भावना से ओत-प्रोत था, जिसमें सहायक रूप से चेतावनी, पश्चाताप आदि भाव सदा विद्यमान थे। उसके पश्चात् आत्म-निवेदन, निर्वेद, मति, धृति, विरोध आदि संचारी भावों के द्वारा उन्होंने अपनी भाव-भक्ति पुष्ट की थी। कुछ पदों में उनकी शैली असंस्कृत लगती है, परन्तु पॉप-संगीत की तरह वही एक नई शैली बन गई है। इस समय भाषा भी अपना नया रूप धारण कर रही थी, क्योंकि पुरानी भाषा समाज से दूर होती जा रही थी। रविदास की भाषा अपने समय के समाज की पीड़ा और चेतना की अभिव्यक्ति करने का उत्तम माध्यम थी। उनकी भाषा ने समाज को एक सूत्र में बांध दिया था। उनकी भाषा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी, क्षेत्रीय बोलियों आदि का सम्मिश्रण है, कारण वे प्रायः देशाटन करते रहे थे।

इस काल के संत जनता के कवि थे और जनता से ही निकले थे और उसके लिए ही थे। जनता के कल्याण के लिए ही उन्होंने अपने विचार प्रकट किये। उनकी शैली प्रसादपूर्ण और सुविधाजनक थी। उन्होंने अपने भावावेग को प्रकट करने के लिए प्रतीकात्मक लक्षणा शैली ग्रहण की और अनुभूतियों को निर्णयात्मक या उलट-बासियों के द्वारा प्रकट किया।

संतों के विषय में कुछ विद्वान यह कहकर कि ये लोग पढ़े-लिखे नहीं थे, इन्हें काव्व का ज्ञान नहीं था; इनकी भाषा अटपटी थी; उन पर काव्यगत अवगुणों का आरोप करते हैं। किन्तु हमारे विचार से नियमों की शिथलता थोड़ी-बहुत सदा ही होती रहती है। निर्वैयक्तिक दृष्टि से उनके काव्य में साहित्य का पूर्ण दर्शन हो सकता है।

अध्याय–7

# उपलब्धियां (भक्ति-साधना)-1

संत के लिए क्या उपलब्धियां हो सकती हैं यह एक विचारणीय विषय है ?

मानवता का उद्देश्य पशुत्व से उठकर मानवीय गुणों को ग्रहण करना और फिर देवत्व को प्राप्त करना है। मनुष्य का केवल गुण ही काम आता है। "मानव तेरा गुण बड़ा काम न आवे चाम" —कबीर। यह जन्म-जन्मांतर की यात्रा है : भूले-भटकों का अपने घर वापिस आ जाना है या अपनी चेतना रूपी मूल को प्राप्त करना है—जिसे भी अपने मूल को ढूंढने की जिज्ञासा हुई और चल दिया वही साधु है और जो पहुंच गया वही संत है।

जन्मजात संस्कारों के कारण रविदास में यह विचार जाग्रत हुआ कि जीवन का उद्देश्य भगवत प्राप्ति (मूल को प्राप्त होना) है, फलतः वे अपने मन को मोड़कर भजन में ध्यान लगाने लगे और आर्तभाव से भगवत कृपा की प्रार्थना करने लगे (क्योंकि अभी तक वे उसे बाहर ही देखते थे) फिर उनको परमात्मा से मिलन या साक्षात्कार की उत्कट इच्छा पैदा हुई और वे आतुर होकर उसके दर्शन की आशा करने लगे। विरह की ज्वाला बढ़ती गई और साथ-ही-साथ जीवन के सत्य की जिज्ञासा भी पैदा हुई। उसी समय उनको स्वामी रामानन्द से 'रं रमाय नमः' का मंत्र मिला और वे अब राम-जानकी की पूजा-अर्चना करने लगे। कभी-कभी भाव विह्वल होकर वे मूर्ति के सामने नाचते गाते भी थे। भजन-कीर्तन के साथ-साथ सत्संग भी चलता था, जिससे उनके मन में सत्य को जानने की प्रबल उत्कंठा पैदा हो गई। सत्संग-मनन (विचार) और नामस्मरण से उनकी चेतना जागृत हुई। तब उन्होंने मूर्ति पूजा-अर्चना, धूप-दीप-आदि भक्ति व्यवहार छोड़कर केवल नामस्मरण और भजन-कीर्तन तक ही अपने आप को सीमित कर लिया। धीरे-धीरे सत्संग से उनकी भक्ति-भावना निखरती गई और उनका नामस्मरण अजपा (मूक) होकर भाव-भक्ति में परिवर्तित होता गया। परमात्मा का गुणगान अब परमात्मा के ध्यान में बदल गया। वे ज्ञानयोग से आत्मा में ही समाते गये और धीरे-धीरे उनका भजन-कीर्तन और ज्ञान-ध्यान छूट गया। पूर्ण समर्पण के साथ उनका आपा (मैं का भाव) विलीन होता गया और वे धीरे-धीरे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सत्ता में आत्मलीन

होते गये। अब उन्हें सत्य के प्रकाश की ज्योति शिखा दिखाई देने लगी थी और वे हर वस्तु में परमात्मा के दर्शन करने लगे जिसका वे शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते थे और वे इशारे से 'गूंगे का गुड़' या, जैसे का तैसा' आदि रहस्यपूर्ण शब्दों से उसकी अभिव्यक्ति करने लगे थे। सर्वव्यापी परमात्मा उन्हें अपने भीतर ही प्रगट होता दिखाई दिया जिसे वे निकट से देख सकते थे, छू सकते थे। भेद मिटता गया और उन्हें पता चला कि आत्म-ज्ञान ही मिलन है। भ्रम मिटने पर वे अपने में ही समा गये, उनकी भटकन मिट गई, जीवन की यात्रा समाप्त कर व स्थिर हो गये, वेद से वेदान्त, इष्ट से ब्रह्म या सत्य तक पहुंच गये—माया मिट गई। जो सत्य उन्हें प्राप्त हुआ था, वा जिस सत्य को वह प्राप्त हो गये वह उन्हें हर जगह दिखाई देने लगा। जो ब्रह्म को जान जाता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।* इस प्रकार सर्वव्यापी चेतना से आत्मसात होने के कारण उनको दूसरे जीवों के दुख को देखकर उनकी करुणा उदय हुई—वे संत और गुरु का पद प्राप्त कर चुके थे, जिससे वह दूसरे जीवों को चेतना देने के लिए एक दीपक का काम करने लगे।

## प्रवृत्ति

गुरु रविदास की प्रवृति जन्मना भक्ति की ओर थी। ब्रिग्स महोदय के अनुसार उन्होंने 18 वर्ष की आयु में ही राम-जानकी की मूर्ति का पूजन प्रारम्भ कर दिया था। बचपन से ही साधु-संतों में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। पिता ने जब उन्हें अपने कार्य में हाथ बटाने के लिए लगा दिया तो वे पिता के धन को साधु-संतों पर खर्च करने लगे। इस प्रकार की प्रवृत्ति देखकर पिता को चिंता हुई और अल्पायु में ही उनका विवाह कर दिया। इसके पश्चात भी जब उनकी दिनचर्या में कुछ परिवर्तन न दिखाई दिया तो, उनके पिता खीझकर उनको प्रताड़ना देने लगे। इसका भी कुछ प्रभाव दिखाई न देने पर उन्हें घर से अलग कर दिया।

इस प्रकार व अपने पैतृक घर के पीछे ही झोंपड़ी बनाकर रहने लगे और जूता गांठकर (मरम्मत कर) दरिद्रता पूर्ण साधारण जीवन व्यतीत करने लगे। फिर भी उन्होंने भजन-कीर्तन और सत्संग न छोड़ा। दैनिक परिश्रम से जो भी मिलता उससे अपने परिवार का पेट पालने लगे और साथ-साथ साधु-संतों की सेवा भी करत रहे। वे केवल उतना ही कमाते जिससे केवल पेट पल सके। उनका जीवन निस्पृह था। वे संतोष से जीवन व्यतीत करते, श्रम करके खाते और साधु-सेवा करते, कभी-कभी

* ब्रह्मविद आप्नोति परम् : तै उप–2–(1)।

इतनी दीन दशा होते हुए भी किसी साधु को नंगे पैर देखकर जूता मुफ्त में दे देते। उनके कुटुम्ब के लोग उनकी हंसी उड़ाते थे और वे दुख के कारण गिड़गिड़ाकर प्रभु से प्रार्थना करते थे—"दारिद देखि सब कोइ हंसे ऐसी दशा हमारी।" हमारी दशा को देखकर लोग हंसते हैं तुम ही उद्धार करो—मैंने तो राम-नाम का सहारा ले लिया है। संभवत: उसी समय उन्होंने स्वामी रामानन्द से राम-नाम की दीक्षा ली थी और वह राम-जानकी की मूर्ति पर ध्यान लगाने लगे थे। उन्होंने पढ़ा-लिखा तो था ही नहीं केवल गुरु-वचन धारण कर, प्रेम-विरह की डोरी पकड़, राम नाम की रट लगा ली थी और इस प्रकार ध्यान करते-करते एक दिन निश्चय कर लिया था कि इस संसार में फिर से जन्म नहीं लेना है। भव-बन्धन से छूट जाना है – कितना कठोर निश्चय था उनका !

## साधना

जन्मजात प्रवृत्ति के कारण रविदास का भक्ति की ओर रुझान निरंतर बढ़ता गया। संत अनंतदास ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है।

**दिन-दिन हिरद हरि विसवासु**
**दिन-दिन बड़ौ भयो रविदासु।**

वे नित्य अपने मन को सावधान करते रहते थे 'जीवन का एक-एक दिन व्यर्थ जा रहा है—मार्ग लम्बा है समय थोड़ा है—बेखबर है, शीघ्र ही चल दे' (भजन प्रारंभ कर दे, मानव जन्म दुर्लभ है)। वे इस प्रकार से नित्य परमात्मा से प्रार्थना करने लगे और आर्तभाव से उसे पुकारने लगे "मैं कुएं के मेंढक की भांति हूं। मेरा मन विषयों में फंसा है। मुझे कुछ सूझता नहीं। परमात्मा तू अन्तर्यामी है। मुझे सुमति दे। मेरी नाव पापों से भरी है—भवसागर अपार व्यथाओं से भरा है—तेरे अवलंबन बिना उसका पार करना कठिन है। मैं कुलहीन, शक्तिहीन और हताश हूं, तेरे चरण छोड़कर कहीं नहीं जा सकता—मुझ संबल दे। तू भक्त वत्सल है मैं शरणागत हूं—मैं माया के हाथ बिक गया था, तेरा नाम भूल गया था।"

वे अब परमात्मा से साक्षात्कार की विनती करने लगे। वे आतुर हो उसके दर्शन की भीख मांगते और विह्वल होकर गाते-गाते बेसुध हो जाते—"मैं दर्शन के बिना नही जी सकता मुझे संसार से कोई आशा नहीं रही—मैं बिगड़ चुका हूं तेरे

सिवाय मेरा कोई साथी नहीं है—सगे सम्बन्धी सभी विमुख हो गये—सभी सयाने हैं, मैं ही मूर्ख हूं, मुझे शरण दो—मुझे केवल तेरी दया का सहारा है।" वे कहते—"मैं साधु-संगत के कारण संसार के काम का नहीं रहा ।" मीरा ने आगे जाकर ऐसा ही कहा है, "'संत ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।" मेरा जी तड़पता है, मुझे नींद नहीं आती; सौभाग्यवती बिना प्रियतम के मिलन के कैसे जीवित रह सकती है, मैं तेरे बिना जीवित नहीं रह सकती 'नींद न आवे भोज न भावे'—बिन दर्शन क्यों जीवे सनेही।" वे पश्चाताप भी करते जाते—"मेरे कर्म में कुछ कमी आ गई होगी, मुझे अंग लगाकर सुहागिन का वरदान दो। 'मेटि दुहाग सुहागिनी कीजै अपने अंग-लगई।'" वे परमात्मा से अधिकार पूर्ण कहते—"मैं जन्म-जन्म से वियोगी हूं, अबकी बार नहीं छोड़ सकता । बहुत जनम विछुरे थे माधव इह जनम तुम्हारे लेखे।"

वे नित्य विरह की आग में जलने लगे और भगवान की शरण की और प्रार्थना करने लगे। वे कभी परमात्मा से अधिकारपूर्ण शरण की भीख मांगते और फिर प्रायश्चित भी करते कि यह तो मेरी ही भूल थी।

कबीर ने भी इसी प्रकार की विरह-वेदना प्रगट की है :

**निंदिया न आये अन्न न भाये**
**बार-बार मोहे विरहा सताये ।**

रविदास परमात्मा से कहते, "मैं नित्य चिंता में हूं। आपने भक्तों के लिए क्या-नहीं किया, आप चिन्तामणि हैं, फिर आप हमारी चिन्ता क्यों नहीं करते । आपको हमारे ऊपर दया क्यों नहीं आती। मैं अब तक अनजाना था, माया के हाथ बिक गया था । सत्य का मार्ग छोड़कर लोकवेद के पीछे पड़ा था और इधर-उधर दौड़ता रहा, फिर भी मेरा मन विकारों से नहीं छूटा । भगवत-कृपा बिना आशा, तृष्णा कैसे छूट सकती है । मैं अब तक सांसारिक विषयों में लिप्त रहा और राम-नाम नहीं भजा। मैंने माया में बंधकर अपना शरीर क्षीण कर लिया, विकार छूटते नहीं, भरे कर्म तेरे सामने हैं।"

और वे इस प्रकार तुच्छ भावना से परमात्मा से दया की भीख मांगते—"तू सब तरह से समर्थ है—तेरे केवल नाम स्मरण से ही नामदेव, कबीर, त्रिलोचन; धन्ना, सधना और सैन आदि नीच कुल के भक्त पार हो गये । जिसके पास आने से ही छूत लगती है उस नीच को तू ही उबार सकता है। तू मेरे सर पर प्रेम (भक्ति)

का ताज रख सकता है।" आगे रविदास को अब कुछ आशा दिखाई देने लगी, प्रभु कृपा से उनको नाम का सहारा मिल गया था, अब वे अपने मन को सांत्वना देने लगे, "मन तू तो बहक रहा है। आशा रख—राम नाम स्मरण से वाल्मीकि जैसे लोग नीच कर्म करते हुए भी ऊंचे पद को प्राप्त कर गये और अजामिल, गज, गणिका आदि सभी का उद्धार हो गया तो तेरा भी उद्धार अवश्य हो जायेगा। —किनारे लगा रह। मैंने शब्द सुरति का सहारा ले लिया है अब तो भाव-भक्ति से वैतरणी पार करके भगवत-शरण मिलेगी ही। संसार में और कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है, केवल नाम ही एक सहारा है, इसलिए गुरु वचन याद कर नाम भज, राम नाम पारस मणि है, जिसके छुने से ही लोह कंचन बन जाता है।"

रविदासजी इस प्रकार संसार से उदास और विरह से उन्मन हो मन-ही-मन भगवान का स्मरण करते हुए राममय होते जा रहे थे। उनकी आस्था दृढ़ होती जा रही थी कि वे नाम की नाव लेकर भव-सागर पार करने लगे थे। वे कहते थे, "मैंने पढ़ा-लिखा नहीं है—गुरु का दिया हुआ राम नाम का मंत्र हृदय की पाटी पर लिख लिया है, जिससे संसार की कालिख (स्याही) नहीं लगेगी, उसी से मेरा उद्धार हो जायेगा, यही आशा है।" कबीर ने भी एक ऐसा ही पद कहा है, 'राम नाम लिख लिया शरीर—तनना बुनना तज्यो कबीर।' "मैं राम नाम का व्यापारी हूं, मैंने साधु संगति की पूंजी जुटाई है मैंने केवल राम नाम का माल लादा है (अमृत)। लोगों ने आडम्बर (विष) लादे हैं। मेरे नाम का रंग पक्का मजीठिया है, विष रूपी संसार का रंग कुसुंभी और कच्चा है।"

**रामनाम सच्चा है और सभी झूठा है।**

**हौं बनजारौ राम को सहज करौं व्यापार।**

**रामनाम धन लाधिया, तौं विष लाद्यौ संसार।**

**—रविदास**

**सत गुरु है रंग रज चुनर मेरी रंग डारी।**

**स्याहो रंग छुड़ाई कैरे दिशो मजोठा रंग।**

**—कबीर**

इस प्रकार रविदासजी नित्य नामस्मरण में लग गये। उनकी आर्थिक दशा दयनीय होती गई। कहते हैं कि उनकी अनन्य भक्ति को देखकर भगवान को भी दया आ गई—वे साधु-वेष में एक बार उनको पारस-पथरी (पारसमणि) भेंट करने लगे, परन्तु रविदासजी ने उसे हाथ भी नहीं लगाया। कथानक झूठा हो या सच्चा, उन्हें अब राम नाम की पारसमणि मिल चुकी थी, जिसके छूने से ही आत्मा (भक्त) स्वर्णवर्ण अर्थात् सवर्णा हो जाती है। संत का कुल सदा ही उच्चतम है।

**ररंकार रहत सबहिन तें अन्तर मेल मिलावेगा**
**लोहा समकर कंचन समकर-भेद अभेद समावेगा।**

गुरु रविदास तो केवल संतोष का जीवन व्यतीत करते थे और केवल श्रम से उपार्जित धन का ही उपयोग करते थे—उन्हें संपत्ति से मोह नहीं था:

**माधवे पारस मनि लइ जाउ**
**मोहि सोने का नहि चाउ।**

उन्हें जब भगवत कृपा से एक बार कुछ स्वर्ण मुद्रिकाएं प्राप्त हुई तो, उन्होंने उनके द्वारा मंदिर बनवा दिया और वहीं नित्य मनन-चिंतन करने लगे। उनकी अटूट श्रद्धा, सेवाभाव और निस्पृह जीवन ने उन्हें धीरे-धीरे भक्ति की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया। गु -कृपा, सत्संग-श्रवण मनन और नामस्मरण ने उन्हें ज्ञानोपार्जन और आत्मबल प्राप्त करने में सहायता दी। आध्यात्मिक विषय में तो बड़े-बड़े विद्वान भी उनका लोहा मानने लगे थे। उनकी भावभंगिमा और अभिव्यक्ति भी विलक्षण थी। नाभादास ने ठीक ही कहा है:

**संदेह गंथी खण्डन निपुण बानी विमल रैदास की**

संत रविदासजी को अब सत्य का कुछ प्रकाश दिखाई देने लगा था। उन्होंने स्वामी रामानन्द के प्रगतिशील विचारों का प्रचार प्रारम्भ कर दिया जिसमें कभी-कभी अप्रिय सत्य भी मुंह से निकल जाता था—फक्कड़पन तो था ही—

**रविदास बाहमन मति पूजिए जउ होव गुनहीन**
**पूजहि चरण चंडाल के जउ होवे गुन परवीन।**

कहते हैं उनसे नाराज होकर लोगों ने काशी नरेश से उनकी शिकायत की, परन्तु उसस उनका सम्मान और भी बढ़ गया । राजा ने उनकी परीक्षा ली, जिसमें वे सफल निकले, क्योंकि अभी तक षटकर्म अथवा धर्मप्रचार का काम एक ही वण की बपौती था और उसने भ्रम फैला रखा था—जैसा कि नीचे के श्लोक में प्रगट होता है :

**अपूज्या : यत्र पूज्जन्ते पूज्य पूजाव्यतिक्रमात्**

**त्रयस्तत्र प्रवर्न्तते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ।**

राजा उनसे बहुत प्रभावित हुए और उच्च वर्ण के लोग भी उनकी प्रशंसा करने लगे । उन्होंने गद्गद् होकर भगवान का धन्यवाद किया ।

**ऐसी लाल तुम बिन कोउन करै**

**गरीब निवाजु गुसैयां—मरे माथे छत्र धरै ।**

उसकी ख्याति सुनकर ही झाली रानी और मीरा उनकी शिष्या बन गई थीं । कबीर ने उन्हें साधुन में सन्त कह डाला था और ध्रुव-प्रह्लाद के बराबर भक्त बतला दिया, क्योंकि उनकी साधना पूरी हो चली थी । स्वामी रामानन्द के परिनिर्वाण के पश्चात् उन्होंने निगुर्ण—निराकार भक्ति की ओर ध्यान दिया था । भक्ति के साथ-साथ सत्संग और मनन तो चल ही रहा था, इसी बीच जब वह कबीर आदि के संपर्क में आये तो उनकी अन्तर्चेतना और भी प्रज्वलित हो गई और वे सगुण साकार से निगुर्ण-निराकार के पुजारी हो गये, उनकी साधना भाव-भक्ति में परिवर्तित हो गई और इस प्रकार वे कल्पनातीत होकर सत्य के सागर में समा गये ।

जब उनकी आत्मा में परिवर्तन आया तो वे कहने लगे कि परंपरागत भक्ति-विधान-अर्चन, पद-पूजन आदि (नवधा भक्ति) तीर्थ-व्रत, बाह्याडम्बर, वेदादि का पठन-पाठन, ज्ञान-ध्यान आदि सभी बेकार हैं, क्योंकि सत्य का साक्षात्कार हुए बिना भक्ति का कोई लाभ नहीं । परिचय अनुभव से होता है । जब तक परिचय नहीं होता सभी भक्ति-भाव भ्रम हैं—"भाई रे । भरम शक्ति सूंजान तो लों सांच सूं नहिं पहिचान ।"

वे कहते थे, "तुम झूठे भेष* (सम्प्रदाय) बना बनाकर बहके फिरते हो। नाम स्मरण से ही सच्चे भेष का पता लगेगा, कहना-सुनना बेकार है। जब तुम राम-नाम के रंग में रंग जाओगे तो और रंग (नाम) अथवा संप्रदाय अच्छे नहीं लगेंगे। सत्संग और समर्पण के बिना भेष भी निरर्थक है।" इस प्रकार वे नित्य परिवर्तित होते गये और कहने लगे, "भगवान मैं परंपरागत नवधा भक्ति के अनुसार तेरी पूजा नहीं कर सकता, क्योंकि उसके लिए जो भी सामग्री उपयोग की जाती है उस सभी में छूत लगी है। मेरे ऊपर गुरु कृपा हो गई है। मैं तो तन-मन अर्पण करके पूजा चढ़ाऊंगा, इसलिए मैंने मूर्ति पूजा छोड़ दी है, क्योंकि जिस मूर्ति को तारनतरन कहकर पूजा-अर्चना की जाती है वह स्वयं क्यों नहीं तर जाती, जिसमें केवल एक (पृथ्वी) तत्व है, मुझ में तो पांच तत्व हैं। मैं अब राम को खोजने कहीं नहीं जाता जिस राम को मैं राम समझ बैठा था वह राम नहीं था। मुझे परिचय मिल गया, सत्य राम का पता लग गया। राम न मंदिर और देवालय में है, न वन और एकान्त में है, वह तो भाव में हैं। भला इतना विराट रूप परमात्मा सपुंट में कैसे समा सकता है, जिसके वेद-स्मृति भी श्वास-स्वरूप कहे गये हैं, उसके सामने मेरी आरती पूजन का क्या मूल्य है।"

**"अस्य महतो भतस्य निश्वसितमेतत् यद् ऋग्वेदो आदि"–वृहदारण्यकोपनिषद्**

## नाम महिमा

इस प्रकार साकार मूर्ति पूजा से उनका चित्त निराकार नाम स्मरण की ओर झुक गया वे कहते, "मैं तो कर्म-काण्ड में फंस गया था, भव सागर में डूबने का भय लगा था। शुद्ध जल (रामनाम) ने बचा लिया। शुद्ध जल में कमल पंक (कर्म-काण्ड) के ऊपर आ जाता है। तेरा नाम ही मेरे लिये अब कर्म-काण्ड है। नाम-स्मरण के सिवाय सभी कर्म-काण्ड अर्चन-पूजन व्यर्थ पाया। नामस्मरण से जन्म-मरण का भय दूर हो जाता है। जप-तप-ज्ञान-वैराग्य राम नाम के बराबर नहीं हो सकता। लिखने पढ़ने और ज्ञान-ध्यान से कुछ नहीं बनता, राम नाम से ही संशय छूटेगा। मेरा दृढ़ निश्चय रामनाम से ही पूरा होगा। राम नाम से ही भेद-अभेद में परिवर्तित होगा—रामनाम पारसमणि है, काम-क्रोध-मोह-माया आदि पंच विकारों द्वारा मैं ठगा गया हूं। गुरु कृपा से मुझे अनुभव हुआ कि राम नाम ही सत्य है पर वह आपा मिटाये बिना नहीं मिलता—ये षटकर्म आदि नीम का फल हैं, जिसमें पंचविकार मिले हैं और जीवन को नित्य क्षीण कर रहे हैं, शरीर एक कच्चा घड़ा है। पंचविकारों को त्यागकर राम नाम भजना आवश्यक है। मुझे तो केवल

*यह भेष भेख उच्चारण किया जाता है जिसका अर्थ साधु या साधभावा में धर्म सम्प्रदाय से है।

राम नाम की रट लगी है। राम नाम के बराबर कोई साधन नहीं। (निर्गुण) राम के भजन से कबीर देह सहित सतलोक सिधार चुके हैं, मुझे फिर क्या चिंता रह गई —मैंने तो वेद-पुराण को त्यागकर केवल रामनाम का सहारा ले लिया है। राम-नाम से ही तो सब कुछ सिद्ध होता है फिर वेदादि क्या करेंगे—सभी संत राम-नाम से ही पार हुए हैं। अब तक मैं तेरे भजन के बिना भटकता रहा मुझे केवल तेरे नाम ही की आशा है। मैं संसार के सभी कर्म-काण्ड (अर्चन-पूजा) से निराश हूं, अपने नाम का साक्षात्कार कीजिये। तू समर्थ है। मैंने अब तेरे से ही सच्ची प्रीति जोड़ ली है। मेरी तेरी प्रीति अटूट है मेरा तेरा साथ सदा-सदा का है—मैं तेरे बिना (जीवित) नहीं रह सकता। मैं तुझ से प्रीति नहीं छोड़ सकता, क्योंकि मैं संसार से विमुख हो चुका हूं और हर समय तेरी ही आस लगाये रहता हूं।"

इस प्रकार रविदासजी राम नाम में ही दत्तचित्त रहने लगे तो सभी बाह्य कर्म-काण्ड और आडम्बर छूटते गये। इस प्रकार उन्होंने परंपरागत भक्ति को छोड़ दिया। उनका नाम भी अब अजपा होकर भाव-भक्ति में परिणत होता जा रहा था। "बिनि रसना निसि दिन गुण गाउं" नामस्मरण और सत्संग ही उनकी साधना के आधार रह गये थे। वे नित्य परमात्मा के सामीप्य की खोज कर रहे थे। "मेरी संगति खोटी है मेरे कर्म खोटे हैं—मुझे तेरी संगति (सामीप्य) चाहिए। गंदे नाले का पानी गंगा की संगति से गंगोदक बन जायेगा, मुझे यही आशा है। तुम मुझे शरण दोगे। तुम पतित पावन हो। तेरी महिमा पापों का हरण करती है। अगर पाप नहीं होत तो आप क्या नष्ट करेंगे। मेरा मन मलीन है, विषयानुरक्त है, मेरी नाव पार करो। अब हृदय विमल है, क्योंकि हृदय में तुम बैठे हो। अब तो बन्धन-मुक्त करना ही पड़ेगा। पाप पुण्य सब तेरा ही है।"

## भाव भक्ति

"भक्ति का घर दूर है केवल भाग्यवान को ही भक्ति मिलती है। अहंकार को छोड़कर (आपा मिटा कर) चींटी की तरह नन्हा (छोटा) बन कर और परमात्मा की कृपा का सहारा लेकर ही भक्ति मिलती है। मन में किसी भी प्रकार की धारणा करते रहो, साध-संगति के बिना भाव उत्पन्न नहीं होता और भाव बिना भक्ति नहीं होती। प्रेम का पथ कठिन है। अभिमान तज कर जो समर्पण कर देती है उस सुख को सुहागिन ही समझ सकती है।"

"हमने तुझ प्रेम फांस में बांध लिया है । पूजा करने के पश्चात् ही छुटकारा मिलेगा । मैं तुमसे अलग नहीं हो सकता । मछली से जैसे पानी नहीं छूटता, मुझसे तेरा छुटकारा असंभव है । तेरा-मेरा भाव देखकर में असमंजस में पड़ा हूं, परस्पर प्रीति के लिए एक-दूसरे को देखते रहना आवश्यक है । तू मुझे देखता है, मैं तुझे नहीं देखता* इसीलिए बुद्धि भ्रम में है । तू सबके अन्दर है । मैं यह जानते हुए भी नहीं जानता । विरह की व्यथा से रात तड़पते हुए बीतती है। प्रियतम के बिना सेज का सुख कैसे मिल सकता है । इसलिए तन क्षीण होता जा रहा है, तू मुझे अंग लगाकर सुहागिन बना दे । एक-एक पल एक-एक कल्प के बराबर हो रहा है । जब तक भाव नहीं पैदा होता, राम नहीं मिल सकता, आपा मेटने से ही राम मिलेगा ।"

# उपलब्धियां (सिद्धियां, प्रज्ञा)-2

## पारमार्थिक जीवन

### सिद्धि (प्रज्ञा)

संत रविदास दार्शनिक नहीं थे । उन्होंने कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया और न ही कोई सम्प्रदाय ही चलाया । वे मूलतः भक्त थे । भक्ति-साधना के साथ-साथ सत्संग और ध्यान के कारण ज्ञानोदय हुआ था, जिसके द्वारा उन्होंने सामाजिक समस्याओं का भी समाधान किया । भक्ति के द्वारा बाह्य वृत्ति का निरोध होने से गहन चिन्तन का उदय होना और उसके द्वारा सत्य का साक्षात्कार होना और सत्य का साक्षात्कार या प्रज्ञा के पश्चात् करुणा का उदय होना, संत के जीवन के प्रमुख सोपान हैं । उस घाट पर जिस पर संत की चेतना काम करती है मानव-मात्र के दुःखों का आभास सहज हो जाता है । मानव-हृदय परमात्मा का सिंहासन होने के कारण वह मानव को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते थे । यही कारण है कि संत रविदास को समाज के लिए भी सोचना पड़ा, जबकि वह कर्म के बन्धन से मुक्त हो चुके थे । संतों द्वारा ही भारत में पहली बार मानवता के लिए एक मुक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, यही संत-मत की विशेषता थी । संतों का ज्ञान केवल सत्संग (श्रवण), मनन (विचार) और नामस्मरण पर ही आधारित था । उन्होंने न तो विद्यार्जन किया था और न ही शास्त्रों का मन्थन । उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया था कि आध्यात्मिक

---

*यहाँ देखने का अर्थ ध्यान रखना है ।

चिन्तन के लिए ये दोनों साधन बाधक हैं न कि सहायक । गुरु रविदास की विचार-धारा में एक-सूत्रता रही है, जिसको समझने के लिए बीज से बरगद तक सभी की स्थितियों का अध्ययन और साथ-साथ देश-काल और परिस्थितियों का निरीक्षण आवश्यक है । एक संत के जीवन को समझने के लिए ऐसे पूर्ण जीवन की आवश्यकता है जो उसी मार्ग का पथिक हो जिस पर संत चल चुका है । इससे परे की बातें केवल अनुमान हैं, जिनसे बचने के लिए संतों ने स्वयं चेतावनी दी है ।

## इष्ट और अनुभूति

जब मनुष्य बाह्य जगत से इन्द्रियों को समेट कर अपने अन्तर में झांकता है तो उसे क्यों, क्या और कहां का प्रश्न झकझोरने लगता है । जब वह चिन्तन की विशाल गहराइयों में उतरता है, तो उसे आश्चर्य ही आश्चर्य दिखाई देता है, जिसका कोई उत्तर नहीं होता । मनुष्य जो कुछ विचार करता है, उसमें अधिकतर कल्पनाए ही होती हैं । वह कल्पनाओं के पर्तों को हटाता और 'नेति-नेति' कहता रहता है और अन्त में प्याज की गांठ की भांति जब कुछ नहीं रहता तो स्तब्ध रह जाता है । इस विकराल स्थिति से बचने के लिए उसके पास 'सर्वखल्विदंब्रह्म' के नारे के अलावा कुछ नहीं होता । ज्ञान-ध्यान थक जाता है । तब उसे रथ के चतुर चलाने वाले की याद आती है । उसे फिर भी विश्वास नहीं होता कि वह बंधन में है और पूर्ण होते हुए भी पूर्ण कहने में असमर्थ है । उसे अभिव्यक्ति की आश्यकता है, जिससे उसके प्राण झंकृत हो उठें और वाणी मुखरित हो जाये । वह छोटे बालक की भांति कुछ कहने का प्रयत्न करता है और फिर संभल जाता है, जिससे कोई उसके इंगित को समझ ले । फिर भी जब उसको सफलता नहीं मिलती तो 'गूंगे केरी' सरकरा कहकर मौन हो जाता है—"गूंगे का गुर कहा बखाने" । वह कहना चाहता है, पर कह नहीं सकता, कहीं उसकी रसना से अमृत का स्रोत न खिसक आये "तेरो जन काहे को बोले बोलि-बोलि अपनी भगति क्यों खोले, बोलत-बोलत बढ़े व्याधी, बोल अनोले जाई ।" कबीर ने भी ऐसा ही कहा है:

**बोलना का कहिए रे भाई**

**बोलत-बोलत तत्त नसाई ।**

## काया

मनुष्य पहले कुछ मान लेता है। क्योंकि माने बिना आगे बढ़ना कठिन है; और फिर उस मान्यता के पास पहुंच कर कहता है कि यह नहीं है (नेती) और फिर उसके गुण गान करता है। फिर जब ध्यान करके देखता है, तो उसे पता लगता है कि यह तो मृग-तृष्णा थी, और इसी का नाम माया है। वह कभी-कभी इस असत्य में खो जाता है और कभी कल्पनाओं, तृष्णा और मृग-मरीचिका के मरुस्थल को पार कर स्थिर हो जाता है। अन्ततः उसे अनुभव होता है कि जिसे वह ढूंढने निकला था वह तो उस के पास ही था ।

**जा काज मैं दौरयो फिरतो सो अब घट मैं आई,**

**कहे रैदास देख्या मन माहि ।**

वह इष्ट से ब्रह्म और वेद से वेदान्त तक पहुंच गया फिर भी कहीं गया न आया-विगताविगित गतागत नाई। केवल ढूंढने वाला अपनी छाया के पीछे लगा था। भेद खुलने पर सभी द्वन्द्व साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, सत्य-असत्य, है, नहीं है, अच्छा-बुरा, दुख-सुख सभी छाया में समा गये ।

संत रविदास की वाणी में लगातार जीवन का इसी प्रकार का व्यापार दिखाई देता है जिस में विकलता, शांति, साक्षात्कार और सान्निध्य है; अधूरेपन और पूर्ण का अनुभव है। परन्तु यह एक जीवन की धारा है, जिसका बहाव एक ही ओर को है और गहन है। इसमें एक स्वर-ध्वनि है त रतम्य हैं, संगीत और माधुर्य है, क्योंकि उसमें जीवन-रस संचारित है अवरुद्ध नहीं है। उनका जीवन उन सहानुभूतिपूर्ण लहरों की खोज में रहता है, जिनके सहारे वे वैतरणी (जीवन-मरण चक्र ) को पार कर सकें ।

जीवन-धारा बहती सलिल धारा की तरह एक किनारे से दूसरे किनारे के साथ टकराती चली जाती है। उसकी स्थिति 'हां' और 'न' के बीच की है। उसका एक किनारा ज्ञानमय है, दूसरा प्रेममय। सत्ता एक है, रूप अनेक हैं। जैसा दर्पण होता है, वसा ही रूप दिखाई देता है, फिर किस दर्पण की बात की जाये। संत नाम

और रूप दोनों से अतीत हो जाते हैं। तीव्र सरिता की भांति प्रेम की मदिरा का प्याला पीकर दीवाना रविदास इस स्थिति में बहता जा रहा था। उसका प्रेम उसे पुकारता था, सर का बलिदान देने के लिए।

> **देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला,**
> **कहै कलाली प्याला देऊं पीवन हारे का सर लेऊं।**

वह ब्रह्म था या ब्रह्म का अंश इसकी कौन परिभाषा करेगा। रविदास कभी उस सत्ता का विराट रूप मानते थे कभी सूक्ष्म मान कर बीज रूप में उसके दर्शन करते थ । उन्होंने ब्रह्म की पूर्णता और सर्व व्यापकता का अनुभव किया था और जीव मात्र में उसके दर्शन किये थे। इस प्रकार की अनुभूति के पश्चात् वे उनके गुणों का वर्णन करने लगे थे ।

संसार के सभी व्यापारों में उसी का नियंत्रण देखत-दखते उनकी अभिव्यक्ति अनुभूति की ऊचांइयों को छूकर रह गई और पूर्णतया उसका वर्णन न कर सकी। फिर रहस्य ही रहस्य रह गया।

> **जस हरि कसिये तस हरि नाही, हरिवस कछ ऐसा ।**

कबीर साहब ने तो रहस्य की ओर भी बढ़ कर "जैसा है तैसा रहे" कह-कर वाणी की असमर्थता बताई है. क्योंकि जिसका हम वर्णन करना चाहते हैं वह अवर्णनीय है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्त मनसा सह"—तैत्तिरीयोपनिषद 9/2 वल्ली

वह जैसा है वैसा ही रहता है हम वर्णन करके अपने विचारों के दर्पण का रंग दे देते हैं। संत चरण दास (दिल्ली) ने उसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया:

> **जैसा मैं आगे कहि आयो, फिर समझो वैसो नहि पायो ।**
> **जो कछु कहिया वाही नाही, सो सब देखा वाके माही ।**
> **अकथ कथा कछ, कहो न जाई, जो भाखों सो ही मुरखाई ।**

वे कहते हैं, "बोलत बोलत बड़े व्याधी, बोल अबोले जाई।" उन्होंने अनुभूति की अभिव्यक्ति की असमर्थता को स्वीकार किया है। अभिव्यक्ति 'क्या है', 'क्या नहीं है'

उसी भावना के बीच में घमती है, उन्होंने परमात्मा या ब्रह्म को अतर्क्य, ज्ञान-विवर्जित, निर्विकार, निश्चल, निराकार, अगम, आगोचर अक्षर, निर्गुण, अतीत, अविनाशी सब कुछ कह डाला। कभी-कभी वे अपनी अभिव्यक्ति से भी संतुष्ट नहीं होते थे। "राम कहत सब जगत भुलाना सो यह राम न होई"

"है-ना-है' के बीच में साहब रहा समाय" — सहजो। इस भाव का दूसरे संतों ने भी बड़ी अच्छी तरह वर्णन किया है और जब वर्णन न कर सके तो उसे सत्य स्वरूप, ज्योतिस्वरूप आदि कह डाला। यह उनके अनुभव की पराकाष्ठा थी।

## सहज साधना

अब गुरु रविदास के भाव (विचार) भी सीमित होते गये और वे कैवल्य सहज शून्य-समाधि की ओर प्रगति करते गये। "अब मेरे से योग और प्राण-साधन नहीं बनता। मैंने अपनी नौका भगवान पर छोड़ दी है नाव—शरीर रूपी रथ और नाद बिन्दु* (शरीर से संबंधित चेतना), सभी थक गई हैं– इस रथ के चलाने वाला सारथी चतुर है। मैं उसी के गुणगान करता हूं।"

**आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीर रथमेव तु**

**बुद्धितु सारथि विद्धि, मन प्रग्रहमेव च।**

**—कठोपनिषद्**

"भगवान का हर घट में वास है, इसलिए सहज भक्ति ही सत्य है, शेष सब भ्रम है–भक्ति द्वारा मुझे सत्य का पता लग गया। मैंने सहज ध्यान का ही सहारा लिया है, दुनिया में कुछ भी कहते फिरो किसी के कुछ कहने सुनने से लाभ नहीं। किसी को क्या पता जीवन का उद्देश्य क्या है–कीट-भृंगी की तरह आत्मा का परमात्मा से एक रूप होना ही सहज (भक्ति) योग है। (अब तो नाम भी मिट गया) बोल बन्द हो गया, आत्मा का आत्मा में ही दर्शन होने लगा। अब तक जो परंपरागत भक्ति थी वह व्यर्थ गई। भक्ति का घर दूर है जो केवल भाग्यवान को ही मिलता है (जिस पर

*नाद बिन्दु प्राण और वीर्य शरीर से संबंधित चेतना।

प्रभु कृपा हो जाती है) अहंकार को छोड़कर या आपा (मैं) मिटाकर और नितांत विनम्र और तुच्छ बनकर परमात्मा से दया की भीख मांगने में ही भक्ति मिलती है। सत्य से साक्षात्कार हुए बिना सभी भक्ति भ्रम है।"

रविदास धीरे धीरे सत्य के निकट आते गये और उनकी सुरति निरति में समा गई, अब विचार शुन्य होने लगे थे। उनका परिचय पूर्ण होता जा रहा था।

"मैंने राम नाम का मंत्र लिया था, तरह-तरह के पूजन अर्चन किये थे, परन्तु सत्य से दूर ही रहा। सारा संसार भ्रम में पड़ा है। रविदास इसलिए उदास है कि उस अलख राम को, जिसका कोई एक ठिकाना नहीं है, किसी ने (पहले) ठीक-ठीक नहीं बताया। जगत का कर्त्ता केवल सच्चा राम ही है और कोई नहीं है। वेद में कुछ कहा गया है, आगे (आगम में) कुछ कहा गया है। पढ़ने लिखने से सत्य का पता नहीं चलता केवल अनुभव से ही पता चला और मैंने बिना चक्षु देखने वाले को अपनी भुजा पकड़ा दी थी। तत्व-ज्ञान के बिना नर्क की अंधेरी कोठरी में पड़ना पड़ेगा। जो कह सकता है वह सत्य में समाहित हो जाता है (कहता नहीं)। फिर किस से भेद जाना जाये ? सत्-असत् की जो बातें कही जाती हैं वे सभी आशा की कहानी है। निराश हुए बिना निर्गुण ब्रह्म की भक्ति नहीं होती। इसीलिए मैं उदास हूं। मैं तेरी पूजा कैसे करूं ? बड़े-बड़े भक्त और मनीषी तेरा भेद नहीं प्राप्त कर सके। चारों वेद जिसके एक स्वास के बराबर है, उसी का वर्णन करना चाहते हैं परन्तु वह ो वर्णनातीत है।"

## वर्णनातीत रहस्य

जान तो लिया पर कैसे कहूं ? क्या कहूं ? उसका रस वर्णन करने से दूर होता है, उसे कबीर ने "गूंगे केरी सरकरा खाये और मुसकाय" कहा है। वह शब्द के संकेत के बाहर है। संसार में शब्दों के समझने में ही भेद पदा हो जाता है। इसीलिए संतों में उसे पुस्तकीय ज्ञान से बाहर की बात कहा है वह तो केवल अनुभव की वस्तु है।

"वह वर्णनातीत है सभी नामों के परे है। फिर निर्गुण-निराकार आदि उसका कौन सा नाम रखा जाये। सयाने लोग (कबीर आदि) उसे निर्गुण-सगुण से भी अतीत बताते हैं। मैंने सभी नामों को छोड़कर केवल निर्गुण ब्रह्म का ही भजन किया है।

योग भी तुम्हारी परिकल्पना ही है , क्योंकि आने-जाने का तो वहां प्रश्न ही नहीं है। भगवान ने सहज में ही मेरे पर कृपा कर दी। लहर समुद्र में समा गई, जल जल में समा गया। तब यह सभी भ्रम था। सभी जगह एक ही परमात्मा व्याप्त है। अब तो ज्ञान-ध्यान का भी प्रश्न नहीं रहा। अब तो गंगा उल्टी होकर यमुना में समा गई। अब मैं शब्दातीत अनाहत में निमग्न हूं। अब मैं निरंजन ज्योति-स्वरूप परमात्मा का ध्यान करता हूं, जिससे फिर संसार में न आ सकूं। वह सत्य वर्णनातीत है। गूंगा गुड़ का क्या वर्णन कर सकता है। "

**गूंगे का गुर कहा बखाने।**

जिस रहस्य का ध्यान संत को था वह उसका वर्णन नहीं कर सकता था, क्योंकि वह तो एक विस्मय या आश्चर्य था, जिसकी उपमा इस जगत में नहीं है और न वह शब्दों द्वारा ही प्रगट किया जा सकता है। अब रविदास शब्दों से परे अनाहत शब्द का ध्यान करते थे, जिसका स्वर निरंतर ध्वनित होता रहता है। परमात्मा की ज्योति उनको दिखाई देने लगी थी। अन्ततः नाद-बिन्दु (शरीर-चेतना) भी थकते गये और वे सहज शून्य में समाहित हो, विचार शून्य हो गये। अब उन्हें परमात्मा का सच्चा रूप ही दिखाई देने लगा था और मैं-तू का भेद मिट गया और अपने प्रियतम से मिलकर निरंतर सुख (निरंतर समाधि) की अवस्था में रहने लगे थे, यह ध्यान योग था। उन्हें अब सत्य पास आता दिखाई दे रहा था।

वे अब रहस्य का वर्णन करते दिखाई देते हैं, पर कह नहीं सकते "परमात्मा के गुणगान की अकथ कहानी है पूरा उपनिषद बन गया है, वह तो जैसा है वैसा ही है, उसका कोई उपमान नहीं है। तू जैसा है वैसा ही रहेगा तेरा वर्णन नहीं कर सकता। मैं कुछ जानता भी नहीं। हमारी दीनता देखकर सभी हंसी उड़ाते हैं जब सारी संपत्ति (ऋद्धि-सिद्धि) तो तेरे पास है (तेरे अन्दर निहित है ) तो मुझे किस बात की चिन्ता है, "लोग कुछ-का-कुछ कहते हैं। कहे बिना रहा भी नहीं जाता, कहने से क्या जब तक स्वयं को भी समझ न आ जाये—कह-कह कर अपनी भक्ति नष्ट होती है (भक्ति का रस रसना से खिसक जाता है )। कहना बन्द करके ही पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है। जिस हरि का लोग वर्णन करते हैं वह हरि नहीं है। हमने भ्रम को पहचान लिया (सत्य अलग हो गया) । वह सर्वव्यापी परमात्मा हर वस्तु में व्याप्त है। एक में अनेक और अनेक में एक है। फिर किस चीज की पूजा करूं।"

गुरु रविदास की अब भक्ति मुक्ति की आशा भी मिट गई। वे आत्मा में ही आत्मा के दर्शन करने लगे थे। उन्हें माया से डर नहीं रहा था, क्योंकि उसका अब भेद खुल गया था, ज्ञान से ही भेद खुल जाता है।

उन्होंने आशा भी छोड़ दी, उन्हें हरि पास में ही दिखाई देने लगा। आत्मा स्थिर हो गई और वे सहज शून्य–विचारहीन निश्चिन्त समाधि में समाने लगे थे। उन्होंने कहा, "यह माया तो संसार को खा रही है। माया जाल में फंसा कर ठग रही है। मेरा स्वामी (परमात्मा) रखवाला है। मैं उसी में छिप जाऊंगा। 'माया मेरा क्या करेगी' मुझे अब कुछ ऐसा अनुभव हो रहा है, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। मेरा साहब (स्वामी) मिला तो 'मैं' नहीं रहा–सब परमात्मा में और परमात्मा सब में है। आत्मा स्वयं हरि है। आत्मा ही आत्मा का साक्षी है। उसे कम लोग जानते हैं। हम तो बाजीगर (मायावी-निरंजन) के साथ हो लिये थे। हमें उसके खल का पता चल गया है। बाजीगर (निरंजन) सत्य है, उसकी माया (जादू) झूठी है। यह ज्ञान होने से मन में प्रतीति (सच्ची आस्था) जागृत हो गई। मन स्थिर होने से माया मिट गई। अब रविदास निर्मल ज्ञान स्वरूप (ज्योति-स्वरूप) आनन्दमय सहज स्वरूप में समा गया है।"

"मेरा भेद मिट गया। 'मुझमें' और 'तुझमें' (मैं-तू में) कनक और कुंडल का सा भेद है। मैं जीवधारी नर हूं, तू अन्तर्यामी नारायण है। (तेरा मेरा तत्व एक है) तू सब में है। सब तुझ में है जब 'मैं' होता है तो 'तू' नहीं रहता, जब 'तू' होता है तो 'म' मिट जाता है–तू सभी घटों में व्याप्त है। अब कुछ दुविधा बाकी नहीं रही।" भक्ति के द्वारा ही पता चला कि भगवान और भक्त एक हैं। (भक्ति ज्ञान का भी साधन बनी)–शंकराचार्य ने ऐसा कहा है, "केवल तरंग और सागर का भेद था मिट गया। एक ही तत्व सभी दृश्यमय वस्तुओं में समाया हुआ है और अलग-अलग दिखाई देता है। जिसका केवल नेति-नेति कहकर ही वर्णन किया जा सकता है या उसे केवल आत्मा की मुस्कान के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।" इस प्रकार रविदास का अनुभव पूरा हुआ और उन्होंने अपनी जीवन यात्रा की पूरी कहानी शब्द संकेत से बताना प्रारंभ किया और कभी ब्रह्म के स्वरूप का भी वर्णन किया।

"जो राममय हो गया उसका पारस स सम्पक हो गया–वह लोह से स्वर्ण बन गया। उसका पद सर्वोत्तम हो गया। जो दृश्यवान है उसका विनाश होना अवश्यम्भावी

है। फिर भी बिना देखे विश्वास नहीं होता। निष्काम भक्त को भगवान रंग विहीन (निर्गुण) दिखाई देता है। फूल फल से पहले लगता है। यही बात कर्म और ज्ञान के विषय में कही जा सकती है। ज्ञान होने पर कर्म (और उसका फल) मिट जाता है ब्रह्म (ओंकार-प्रणव-राम) बट बीज जैसा है, यह संसार उसका विस्तार रूपी वटवृक्ष है (सृष्टि-अभिव्यक्ति) — जो वस्तु जिस मूल से पैदा होती है वह उसी में समा जाती है — (सहज शून्य) जो मन को प्रकाशित करता है वही बिन्दु (ज्योति-स्वरूप परमात्मा निरंजन) है। ब्रह्म के परिचय के पश्चात् जीवन नहीं मरता। *मन ने जो बताया (कल्पना की थी) वही मन को खा रहा है। राम नाम स्मरण ही परम वैराग्य है। दही को घी के लिए मथा जाता है। मन के मन्थन से सत्य का ज्ञान होना चाहिए। जीवन मुक्ति ही निर्वाण है। जीवन का सार जानना ही जीवन मुक्ति है। "जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म मय हो जाता है" "स: यो व-ब्रह्म वेद ब्रह्ममेव भवति"—मुण्डकोपनिषद्।

"लोग सुरसरि के पास रहते हुए भी सुरसरि (गंगा) का जल नहीं पीते। सुरसरि से मिलकर गंदा जल भी पवित्र हो जाता है, प्रभु कृपा से मेरा कुल पवित्र हुआ है। वेद के ज्ञाता (विप्र) भी अब मुझे सत्कारपूर्वक नमस्कार करने लगे हैं। यह सब नाम की ही महिमा है। नाम स्मरण से कबीर जैसे भक्त भी, जिनके कुल के लोग निष्कृष्ट कर्म करते रहे थे तीन लोक में प्रसिद्ध हो गये। मेरे कुटब के लोग तो आज तक बनारस के आसपास तुच्छ कर्म करते हैं, मुर्दा पशु ढोते हैं, फिर भी उच्च वर्ग के लोग मेरी चरण-वन्दना करते हैं।"

## समता की पराकाष्ठा

रविदास जी को अब यह ज्ञान होना प्रारंभ हुआ कि सभी कुछ एक ही सत्ता है जो अलग-अलग रूपों से अलग-अलग दिखाई देती है, उनका भेष (सम्प्रदाय) से भेद नहीं मिटा था, वह तो केवल साधन था। साधना करते-करते उनका भेद मिटता गया, उन्हें जड़-चेतन सभी कुछ एक ही की अभिव्यक्ति दिखाई देती थी—"एकोब्रह्म सर्व भूतेषु"। वे कहते थे कि मैं राम का जन, बन्दा हूं। मैं कम-बन्धन से छूट गया। मेरा भद मिट गया, मन और ममता एक हो गये (तृष्णा करुणा में समा गई) और सुरति निरति में समा गई। मेरे लिए हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं रहा। अथवा अब मुझे भेष या सम्प्रदाय की आवश्यकता नहीं रही। जब तक भेद

---

*मैं क्यों मरूं मरे संसारा, मुझको मिला जियावन हारा—कबीर।

नहीं मिटता वद, कुरान आदि ग्रन्थों का कोई अर्थ नहीं। धर्म का अर्थ केवल भेद दूर करना है। मैं जो अब तक पूछता रहा सभी झूठा सिद्ध हुआ। केवल सत्य में आस्था से ही संभव हुआ–इसलिए मैं उसकी पूजा करता हूं, जिसकी रूपरेखा (नामरूप) नहीं है। जिसका कोई भेष नहीं है।

## ब्रह्म लीनता

रविदास सुरति (भाव) में लीन होने पर निरति (विचार शून्यता) में समाहित होते गये। जिसको उन्होंने 'सहजसुन्न' कहा है। मन स्थिर हो गया और वे आत्मा में ही आत्मा के दर्शन करने लगे। विरह के गीत गाने वाली आत्मा अब तो अपने प्रियतम से मिल गई थी–गंगा सागर में जा मिली थी–लहरें समुद्र में समा गई थीं–जल में जल मिल गया था। आशा निराशा से वह अतीत हो गये थे। भक्ति-मुक्ति की आशा भी मिट गई "हमने जहां-जहां आस्था रखी थी वही असत्य निकला, नदी समुद्र में मिल गई–वाणी स्तब्ध हो गई, अब कुछ कहने-सुनने को नहीं रहा–जब तक अधूरा था बोलता था, अब तो स्वयं ही परमतत्व में समा गया। यह सभी तो (दृश्यमान जगत) परमतत्व है। मेरी भक्ति पूर्ण हो गई। जिस माया ने सभी को लूटा था उस माया से मैं राम राम करके छूट गया। जीवन भर भटकता रहा था किसी ने सही रास्ता नहीं बताया। मुझ पर गुरु कृपा हुई तो मैंने कर्म काण्ड, पूजा-अर्चना, ज्ञान-ध्यान सभी को त्यागकर केवल राम नाम का सहारा ले लिया था। मैंने अपने को परमात्मा को समर्पण कर दिया था, जिसे बाहर ढूंढता था वह अन्दर ही मिल गया। अब मेरा सांई मेरे सामने है–मेरा भटकना बन्द हो गया (मेरा जीवन धन्य हो गया)।

## पूर्णता

अन्ततः वे पूर्णता को प्राप्त कर गये। "लोगों ने बिगाड़-बिगाड़ कर (गांठ-गांठ कर) सुधारने के पश्चात् जीवन की सार्थकता प्राप्त की थी। रविदास बिना गांठे मरम्मत किये (ज्यों-का-त्यों) परमात्मा के पास पहुंच गया। अब मैं अपने घर आ गया हूं और निश्चिन्त हूं। इस संसार में सभी मित्र हैं। (बेगम पुरा शहर में) सारा संसार मेरा अपना है, कहीं गया न आया। माया ने जो भ्रम पैदा किया था वह मिट गया। सारा भेद अज्ञान के कारण था जो मेरी इच्छा और कल्पनाओं ने पैदा किया था।"

# उपलब्धियां (करुणा)—3

## सार्थक जीवन

परमार्थ सिद्धि के पश्चात् संत की करुणा जागती है। वही उसकी इस भौतिक जगत में जीवन की सार्थकता है। जब चेतना जाग्रत हो जाती है, तो प्रज्वलित होकर प्रकाश देने लगती है, बाहर से इष्ट की पुकार (आह्वान) अन्दर चली जाती है, तो ब्रह्माग्नि जाग्रत हो उठती है। वही प्रज्ञा का पूर्ण उदय है।

ब्रह्मरन्ध्र पार कर आत्मा जब सहज शून्य (सुन्न) में समाधिस्थ होती है अथवा मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है और उसका मन डोलना बन्द कर देता है, तो उसे पता चलता है कि वह अपने कर्म के बन्धनों में फंसा था जो उसकी इच्छा-बीज ने पैदा किये थे। उसे यह भी पता लगता है कि सभी जीवों की वही अवस्था है जो उसकी थी। वह तो अपने मूल को लौट आया, परन्तु दूसरे अभी भटक रहे हैं। उनमें भी वही चेतना निश्चष्ट पड़ी है जो उसमें थी और वह भी उसी प्रकार प्रज्वलित हो सकती है जैसे उसकी। केवल चिनगारी की आवश्यकता है। जब उसे ऊंचे धरातल पर बैठ कर निश्चिन्तता होती है, तो अपने सफर का ध्यान आना स्वाभाविक है। यद्यपि माया उसे अब कष्ट नहीं दे रही होती है, फिर भी उसे उसी पथ के बहुत से पथिक उसी की तरह कष्ट अनुभव करते हुए दिखाई देते हैं जैसा कि उसने किया है और इस प्रकार करुणा का उदय हो जाता है। करुणा का उदय होना ही सार्थक जीवन है। वह चल देता है मानव-मात्र को भवसागर की विकराल लहरों से बचाने। यही गुरु पद है। गुरु केवल चिनगारी देता है और शिष्य चिनगारी को अपने भीतर सुलगा लेता है।

**सुलगाय लेय सोई चेला —कबीर**

शिष्य को कुछ सिखाया नहीं जाता, वह दीक्षा के पश्चात् एक निष्ठा में बंध जाता है, जिससे वह एक मनोवेग का अनुभव करता है। दीक्षा का अर्थ ही परिवर्तन है। पर यहां तो संत की प्रतिभा और उसके जीवन की महानता से ही मानवता का उद्धार होता है। रविदासजी ने स्वयं कहा है कि गुरु दीक्षा के बिना भाव नहीं पैदा होता और भाव के बिना परमार्थ के मार्ग में पूर्णता आना कठिन है। कबीर साहब ने एक बार कहा था कि मन के दर्पण को बार-बार मांजना पड़ता है, क्योंकि उसकी मलीनता से फिर से भ्रम पैदा होने का भय रहता है।

यहां प्रमुखता है श्रद्धा की, जिसक बिना जीव का उद्धार होना कठिन है। संत की प्रतिभा और उसके चरित्र के प्रभाव से श्रद्धालु मुमुक्षु उसकी ओर आकृष्ट होते हैं और उसकी गहन और पवित्र जीवनधारा में मिलकर पवित्र हो जाते हैं। यहां संत का स्थान परमात्मा के समकक्ष हो जाता है। सच्चे संत को किसी प्रकार का प्रचार करते कम ही देखा गया है स्वयं मुमुक्षु ही उसके पास आते हैं : बुद्ध भगवान की करुणा अपार थी, इसीलिये वह सहज ही में संसार में फैल गई थी।

संत की विशेषता यह है कि ऊंचे शिखर पर पहुंचकर उसका भेद मिट जाता है। सभी रास्ते उसी शिखर के तो हैं जो उसके लिये एक हो जाते हैं और वह परमात्मा का स्थान पाकर समदर्शी बन जाता है। "संत अनन्तहि अंतरु नाहीं" उनके यहां भेष या सम्प्रदाय का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि ये तो सभी मार्ग है। जब तक ये मार्ग भेद नहीं मिटाते तब तक ये सभी व्यर्थ हैं "सून्न सहज में दोउ त्यागे राम कहुंन खुदाई" क्योंकि संत के लिए नामरूप तो मिट जाता है केवल यही सत्य रह जाता है जो सब जगत एक है। इसीलिए उन्होंने अन्ततः कह दिया :

**कृष्ण करीम, राम हरि राघव जब लग एक न पेषा**
**वेद-कतेब-कुरान-पुरानन, सहज एक नहि वेषा* ।**

संत ने साधना काल में अनेक कल्पनाएं की थीं और उसी के अनुसार सत्य (इष्ट) का वर्णन किया था तथा उसकी पूजा की थी। परन्तु तदन्तर उसमें पाया कि वह सभी झूठा और भ्रम था। वह सत्य (ब्रह्म) तो जैसा है, वैसा ही है। उसी प्रकार समाज ने भी काल्पनिक टोलियां और सम्प्रदाय बना डाले थे, उनमें भगवत् इच्छा का आरोप कर दिया था और शोषण के लिए सामाजिक गठन के पीछे एक हुक्मनामा (आदेश) जारी कर दिया था कि मनुष्य मनुष्य नहीं है, वह छोटी बड़ी जाति है और उसके अधिकार संकुचित है। संतों ने समयानुसार यह प्रमाण दे दिया था कि यह विधान काल्पनिक है—भगवान का आदेश नहीं है। भगवान के दरबार में सभी बराबर हैं, यह तो केवल शतानवृति स्वार्थ का खल हैं, जिससे शोषण करने वालों की मुफ्त की रोजी-रोटी चलती रहे। रविदास ने समाज को इस भ्रम से निकालकर एक नई दिशा प्रदान की थी, क्योंकि वे युग पुरुष थे, भक्ति-साधना के बल से वे उस अवस्था को पहुंचे थ और समाज के लिये दीपक बन गये थे।

*यहां 'ष' का उच्चारण 'ख' जैसा है।

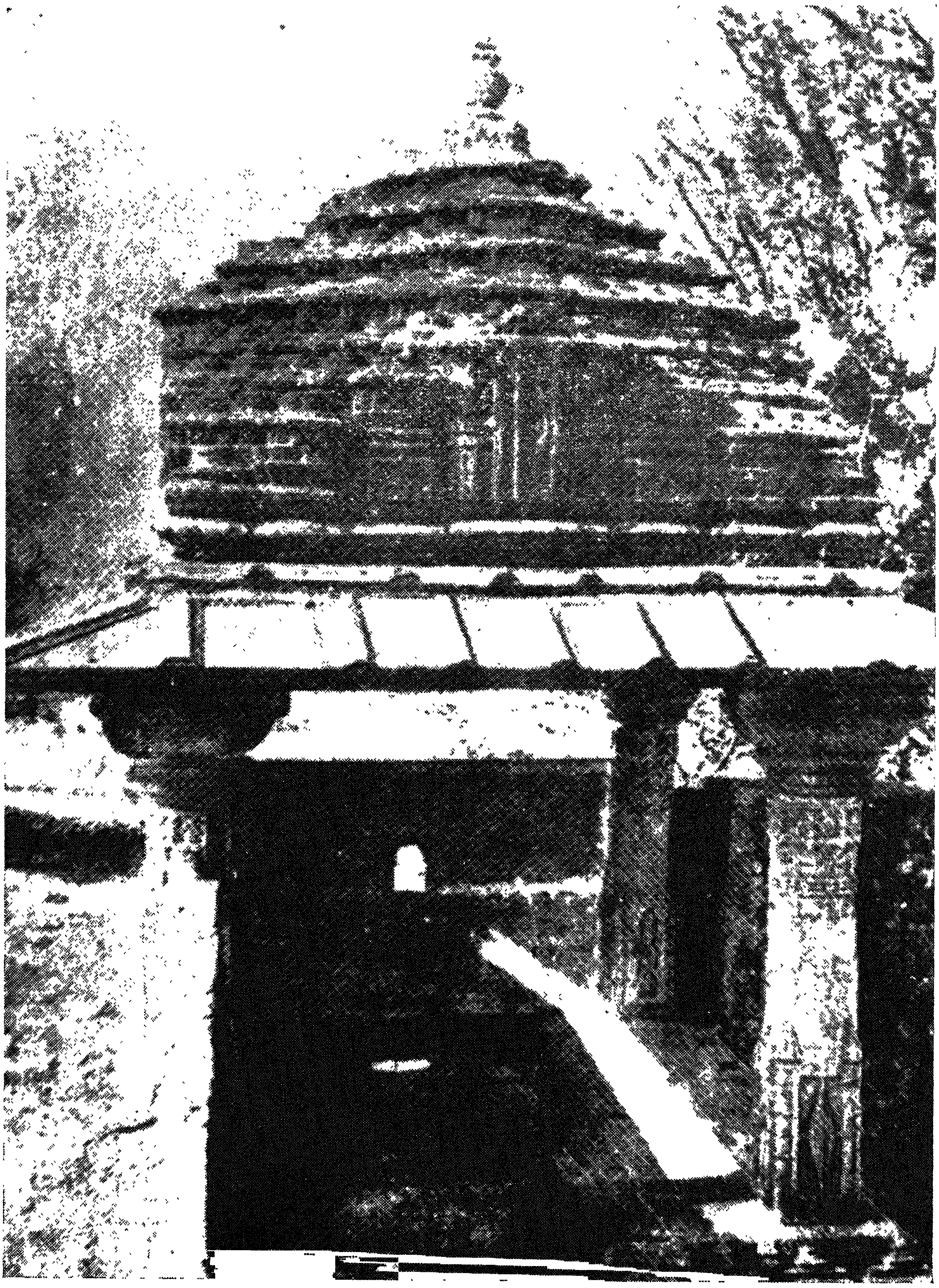

संत रविदास के जन्म स्थान मण्डुआडीह (वाराणसी) में बना मंदिर

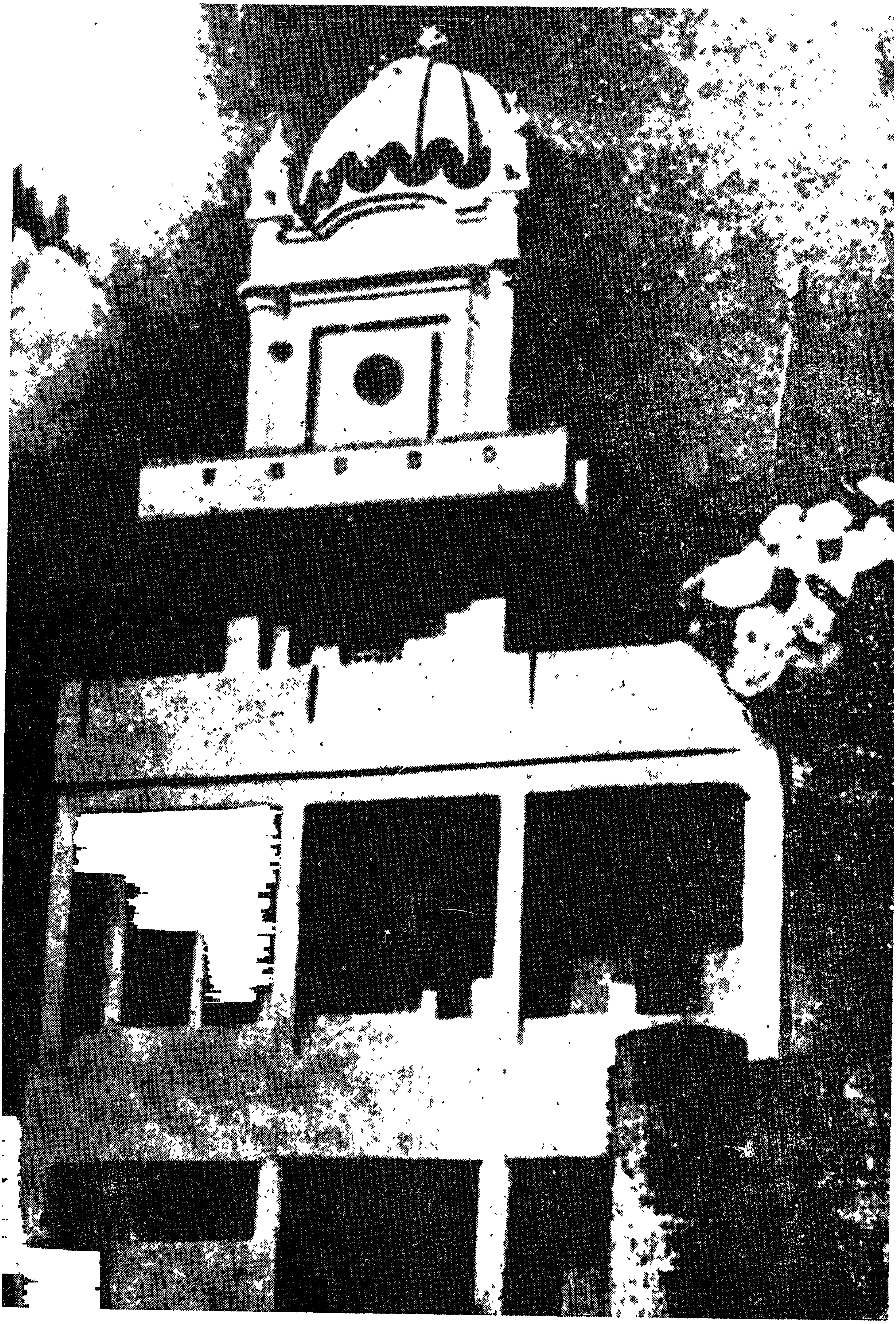

रविदास छतरी, चित्तौडगढ

संत रविदास के चरण चिन्ह, कुम्भश्याम मंदिर, चित्तौड़गढ़

रविदास छतरी की छत पर पंच विकारों की मूर्ति

अध्याय—8

# रविदास की समाज को देन

संत अपने आत्मबल और चरित्रबल के द्वारा ही समाज की धारा को बदलता है और उसमें नई चेतना जागृत करता है। एक कथा है कि प्रज्ञा-प्राप्ति के पश्चात बुद्ध भगवान जब अपने आप को समेट कर बैठ गये, क्योंकि उनके लिए अब कुछ करने को शेष नहीं रहा था तो देवताओं में खलबली मच गई। वे बुद्ध भगवान के पास गये और उनसे कहने लगे कि भगवान आप के तो तीन ताप मिट गये, परन्तु इस संसार का क्या होगा जो दुखों की भट्टी में जल रहा है। इस पर बुद्ध भगवान ने उत्तर दिया कि जैसे मैंने किया और भी कर सकते हैं अर्थात् हर मनुष्य साधना करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इससे संतुष्टि न होने पर देवताओं ने भगवान बुद्ध के अतीत की कहानी सुनाई जिससे उन्हें प्रेरणा मिली थी। भगवान बुद्ध के हृदय में एक साथ करुणा उदय हो गई और वे खप्पर उठाकर संसार का उद्धार करने को चल दिये। कहने का अभिप्राय यही है कि करुणा ही मनुष्य को मनुष्य का उद्धार करने के लिए प्रेरित करती है? क्योंकि संत को यह ज्ञान हो जाता है कि सभी जीवों में एक ही प्राण, एक ही चेतना का विस्तार है, इसलिये जब तक सभी सुखी नहीं हो जाते वह भी सुखी नहीं रह सकता।एक आंधुनिक संत का कहना है कि मनुष्य मात्र कबूतरों की तरह एक ही जाल में फंसे हैं। जिन्हें यह ज्ञान हो जाता है वे दूसरों को प्रेरणा देकर उड़ान के लिए प्रोत्साहित करते हैं, जिससे सभी एक साथ उड़ चलें और मुक्ति प्राप्त करें, क्योंकि एक के उड़ान भरने से जाल से मुक्ति नहीं मिल सकती। यही परम-मुक्ति है। इसको निवृत्ति मार्ग कहें या प्रवृत्ति मार्ग कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आत्म सिद्धि से जो भावों की महानता, तीव्र गति और पूर्ण चेतना या प्रकाश की प्राप्ति होती है वह इतनी आकर्षक होती है कि इससे आकर्षित होकर अज्ञान और भ्रम के अंधकार में फंसे जीव इसकी ओर उन्मुख होकर दौड़ते हैं और प्रकाश ग्रहण कर मुक्त हो जाते हैं। इसी को सुरसरि और गंदे नालों की उपमा दी गई है। यह स्वाभाविक ही होता है कि संत किसी को कहने नहीं जाता कि आओ मरे पास आओ



83M/P(D)600MofI&B—7

और मुक्त हो जाओ। संत न तो शिष्यों को खोजते हैं और न धर्म का प्रचार ही करते हैं। धर्म-प्रचारक अधिकतर तीसरी श्रेणी के मनुष्य होते हैं। आत्मा, जो स्वयंज्योति है, भक्ति द्वारा ज्योति स्वरूप परमात्मा से आत्मसात हो स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करने लगती है। यही गुरु पद है। ज्योति तो उसमें पहले से ही विद्यमान थी केवल चिनगारी की आवश्यकता थी, वह गुरु से प्राप्त हो गई। गुरु विहीन या निर्गुण सदा संसार में भटकता रहता है। इसलिए संतों ने गुरु की महिमा का बहुत बड़ा वर्णन किया है और निगुरे को सदा असम्मान की दृष्टि से देखा है।

संतों का उदय होना ही संसार के लिए शुभ नक्षत्रों की तरह कल्याणकारी है—जो विद्वान केवल शब्दों तक ही अपने को सीमित रखते हैं उनको चाहे उपदेशक, समाज सेवी, राजनीतिज्ञ कुछ भी कहें, सभी भ्रमित होते हैं। अनुभव और साक्षात्कार, जो अटपटी वाणी द्वारा मुखरित होता है, उसको ध्यान से सुनने, मनन करने और उसके अनुसार मार्ग का अनुसरण करने से मुमुक्षु, साधक मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। संतों ने अपने आचरण से जो दिया है उसी से आचार संहिता बन गयी। उनकी वाणी द्वारा जो विचार मुखरित हुए उनसे शास्त्र बन गये। उन्होंने शास्त्रों को प्रमाण दिया और संसार में भगवान के साम्राज्य का साक्ष्य दिया। विद्वानों ने उनकी वाणियों को समझने-समझाने के लिए एक विशाल वाङ्मय तैयार कर दिया जिसे संभव है वे स्वयं ही समझ न सकें। यही सरस्वती माया कही गई है। संतों के महान व्यक्तित्व की गंगा का सामीप्य ही उनके समझने में सहायक हो सकता है। लोक-कल्याण के लिए ये वाणियां गंगा की कल-कल मधुर ध्वनि की तरह हृदय के तारों को स्पर्श कर जाती है। स्वयं रविदास जी ने ही कहा है :

**सब सुख पावै जासुतें, सो हरि जू के दास**
**कोउ दुःख पावै जासुतें सो न दास हरिदास।**

यह एक कसौटी है कि जिससे किसी को दुःख हो वह संत नहीं हो सकता। संत संसार में मानव-कल्याण के लिए ही आते हैं :

**संतन के मन होत है, सब के हित की बात।**
**घट-घट देखें अलख को, पूछैं जात न पात।**

उनके लिए मनुष्यमात्र एक है। वे जाति अथवा वर्ग का भेद नहीं मानते। वे सभी में भगवान का रूप देखते हैं। (भगवान ने मनुष्य को अपने रूप में गढ़ा और उसमें अपनी

आत्मा रख दी) * मनुष्य की योनि उत्तम कही गई है और उसके हृदय में भगवान का निवास माना गया है। उसी का अनुभव करते हुए संत जब अपनी अटपटी भाषा में आत्मविभोर हो कुछ गुनगुनाते थे तो संसार के उद्धार के लिए सत्य का कुछ प्रदर्शन हो ही जाता था। उसे समझने वाले समझ लेते थे और ग्रहण करने वाले उसे ग्रहण कर लेते थे।

पीड़ा से उत्पन्न हुआ संत बुद्ध भगवान की तरह दूसरों की पीड़ा का अहसास भी करने लगता है और सिद्ध होकर उसका उपाय भी ढूंढ़ लेता है। यूं तो संतों की आत्मा स्वयं की उद्धारक होती हैं, परन्तु फिर भी अन्तःप्रेरणा के द्वारा उन्होंने सर्व साधारण के लिए कुछ कह ही दिया। कबीर ने कहा है :

**साईं यह विचारिया साखी कह कबीर**
**सागर के सब जीव हैं जो कोई पकरै जीव।**

सभी लोग एक ही नौका में तो हैं। रविदास जी ने उसी समुद्र (भव सागर) की पीड़ा का अनुभव कर उसका समाधान सोचा और उसके लिए ऐसा कार्य किया, जिसमें विरोधियों का सामना भी करना पड़ा। परन्तु, क्योंकि यह समय की मांग थी, इसलिए उनकी वाणी का समाज पर प्रभाव पड़ा। विरोध के होते हुए भी उनकी बातों को मान्यता मिली और उन्हें समाज में सम्मान प्राप्त हुआ। समाज ने नामदेव और कबीर की कटुता और प्रताड़ना को भी अमृत मानकर ग्रहण कर लिया, क्योंकि वह सदियों पुरानी सामाजिक विकृति की अचूक औषधि थी।

मध्यकाल धार्मिक चेतना का युग था। धर्म की मान्यताओं के परिवर्तन बिना कोई समाज-सुधार होना असंभव है, क्योंकि सामाजिक ढांचा तो धर्म की भिति पर ही खड़ा है। इसी कारण भारत में कोई भी सामाजिक विचार धर्म से स्वतंत्र होकर नहीं चल सकता था। दूसरे संतों की तरह रविदासजी ने भी भक्ति और धर्म के क्षेत्र में समान अधिकार और सामाजिक समानता की बात कही है। जन्म से उच्चता और मूर्ति-पूजा आदि का उस समय तक एक बहुत बड़ा उपहास हो चुका था। समाज के उच्चतम कहे जाने वाले वर्गों का अपमान भी सर्वविदित है। इसलिए संत रविदास की बातें लोगों को कटु नहीं लगीं। वैसे भी संकीर्णता और भेदभाव को छोड़ना उस समय आवश्यक था।

---

*ऐसा भाव कुरआन शरीफ़ और बाइबिल में प्रदर्शित हुआ है।

83-M/P(D)600MofI&B—7(a)

संत रविदास ने परंपरा, कट्टरता, हठधर्मिता और रूढ़ियों में जो कुछ अच्छा था उसका समन्वय कर ऐसी विचार-धारा का निर्धारण किया, जिससे हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की विशाल खाईयों को पाटने में सहायता मिली, यह भारत में भावनात्मक एकता का बहुत बड़ा संदेश था ।

**कृष्ण करीम राम हरि राघव जब लग ऐक न पेखा**
**वेद कतेब कुरान पुरातन, सहज एक नहि पखा ।**

रविदास तत्कालीन परिवर्तन से अनभिज्ञ नहीं थे । उनके विचार में व्यावहारिक समाधान द्वारा ही समाज के कष्ट दूर हो सकते थे । इसलिये उन्हें एक महान समाज सुधारक भी कहा जा सकता है, यद्यपि मूलतः वे भक्त थे । समाज सुधार की भावना उनके दर्शन और ज्ञान पर आधारित थी । अपनी गहन अनुभूति के आधार पर ही उन्होंने मानव-एकता की बात कही थी । वे परमात्मा की ज्योति का प्रकाश सभी में देखते थे इसीलिए भेदभाव को असत्य मानते थे :

**रविदास एकै ब्रह्म का होइ रह्यो सगल पसार**
**एकै माटी सब घट साजै एकै सभकूं सरजन हार ।**

अथवा–

**एक जोति तै जउ सभ उपजै तउ ऊंच-नीच कस मान ।**

रविदास जी ने जातिवाद पर एक बड़ा प्रहार किया, क्योंकि उनके जीवन की चुभन उसमें छिपी थी :

**ब्राह्मन वैस सूद अरू ख्यत्री डोम चंडार मलेछ मन सोई**
**होई पुनीत भगवत भजन ते आपु तारि तारे कुल दोई ।**

उन्होंने कहा कि भगवान के दरबार में जातिगत, कुलगत और आचार-व्यवहार-गत कोई भेद नहीं हैं :

**जाकी छोति जगत कउ लागै तापर तू ही ढरै**
**नीचहु ऊंच करै मेरा गोबिन्दु काहु ते न डरै ।**

उन्होंने साधना और आत्मोन्नति के लिए सदाचार, नैतिकता और आत्मसंयम का संदेश दिया था। उनके अनुसार सभी दु:खों का कारण पंच विकार हैं – "काम, क्रोध, माया, मद, मत्सर ।" इन पांचों मिल लूटे भोगों से कभी भी तृप्ति नहीं होती जितना भोग किया जाता है उतनी ही तृष्णा बढ़ती है । भोगेच्छा में बाधा पड़ने से क्रोध आता है, क्रोध से विवेक जाता रहता है, विवेक नष्ट होने से भ्रम पैदा होता है और भ्रम से बुद्धि भ्रष्ट होती है । बुद्धि भ्रष्ट होने से मनुष्य लक्ष्यहीन होकर नष्ट हो जाता है । यह बात गीता में कही गई है । रविदासजी भी कहते हैं :

**बुद्धि अरु विवेकहि जउ राखन चाहौ पास**

**इंदरियां संग निरत को, तजि देहु रविदास ।**

रविदासजी ने धन-लोलुपता, संचय और असंतोष आदि अवगुणों को दूर करने का आदेश दिया । उनके पास केवल एक ही धन 'राम नाम' था । इसलिए उन्होंने पारसमणि का भी उपयोग नहीं किया । उन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा करते हुए ईमानदारी से कमाई करने का उपदेश दिया । उन्होंने कर्म और भजन एक साथ करने का उपदेश दिया है :

**जिव्हा सें औंकार भन हत्यन सौं कर कार**

**राम मिलहिं घर आइकर, कहि रविदास विचार ।**

उन्होंने पोपापंथी और उनके आडम्बरों को झूठा बतलाया और कहा कि माथे का तिलक और हाथ में माला केवल पाखण्ड का चिह्न और चोर-बाजारी है, इस प्रकार का दिखावा केवल संसार को धोखा देने का साधन है :

**माथै तिलक हाथ जय माला जग ठगने कु स्वांग बनाया**

**मारग छाड़ि कुमारग डहकैं सांचो प्रीत बिनु राम न पाया ।**

उनके लिए देवालय और मस्जिद का कोई महत्व नहीं था, यद्यपि अलवारों और रामानुज की परंपरा में देवालयों को पूजना भी भक्ति में सम्मिलित था ।

**देहरा और मसीत मांहि रविदास ना सीस निवाई**
**जिह-जिह लो सीस निवावना सो ठाकुर सब जाई ।**
**हिन्दू पूजे देहरा मुसलमान मसीत,**
**रविदास पूजे इक रामकू जिस निरंतर प्रीति ।**
**तुर्कमसिती अल्लाह ढूंढ़े देहरे हिन्दू रामगुसाई**
**रविदास ढूंढ़िया राम रहीम कू जेह मसीत देहरा नाहि ।**

हिन्दुओं के धर्मस्थान मथुरा, हरिद्वार, काशी, द्वारका आदि उनके लिए किसी काम के नहीं थे––प्रभु तो अन्तर में बसा है ।

**का मथुरा का द्वारका, का काशी हरिद्वार**
**रविदास खोजा दिल आपना, तें मिलिया दिलदार ।**

रविदास की वाणी में हमें मनुष्य की जन्म-जात समानता का भाव मिलता है। किसी के ऊंचा या नीचा पैदा होने से मोक्ष की प्राप्ति और भक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं । उनका कहना था कि यह जीवन रहस्य है, केवल परमात्मा ही जीवन देता और उसे समाप्त करता है। जन्म से प्रसन्न और मृत्यु से दुखी नहीं होना चाहिए :

**जीवन जोत कैसे जगे कैसे होय अन्त**
**रविदास मनुष्य न जाने जानत है भगवन्त ।**

**रविदास जन्मै को हरस, का मरने को का सोग**
**बाजीगर के खेल कै समझत नाहि लोग ।**

रविदासजी को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान था । उन्होंने हिन्दू-मुसलमान के भाव से कभी नहीं सोचा । उन्होंने केवल प्रचलित रिवाजों का विरोध किया था ।

जीवन-मरण एक बड़ा दु:ख है । जीवन म मुक्त होन की छटपटाहट बाधाओं और दुखों की भरमार से और भी तीव्र हो जाती है । संतों के लिए यह एक और बड़ा दु:ख था कि उनकी जाति के पीछे हीन-भावना लगी थी और उनके लिए सामाजिक मुक्ति पहली सीढ़ी थी । उसी मुक्ति के लिए उन्हें बार-बार भगवान का आह्वान करना पड़ा ।

उसके दरबार में फरियाद करनी पड़ी। भगवान बुद्ध को मृत्यु, बूढ़ा और बीमार मनुष्य देखकर मुक्ति की जिज्ञासा हुई थी। परन्तु ये दुःख तो स्वाभाविक हैं और जीवन के साथ लगे हैं– "मीच बुढ़ापा आपदा सब काहू में होय" –कबीर। ज्ञान द्वारा ही इस दुःख का निराकरण हो सकता है। परन्तु पराधीनता सबसे बड़ा दुःख है, इसे संतों ने खूब पहचाना था। इसीलिए संत जीवनभर केवल सामाजिक और वैचारिक पराधीनता स जूझते रहे। पराधीन का कोई धर्म नहीं होता। जब उसको विचार-स्वातंत्र्य ही नहीं तो धर्म की मान्यता क्या। दूसरों के सहारे रहने वाले पशुवत् ही होते हैं :

**पराधीन को दीन क्या पराधीन बेदीन**
**रविदास दास पराधीन को, सब कोई समझे हीन।**

जातिवाद की एक लम्बी कहानी है। उस कहानी का परीक्षण-निरीक्षण करने से केवल एक ही परिणाम निकाला जा सकता है कि अनेकों वर्ण, वर्ग, कबीले, उपजातियां, कुल और गोत्र सब अपने को दूसरे से बड़ा बताने की प्रतिस्पर्धा में लगे हैं। आज कोई भी जाति वर्ण-व्यवस्था के अनुसार नहीं है।वर्ण-व्यवस्था एक ढीले संगठन का नाम है जो जातिवाद की एक लम्बी सीढ़ी में परिवर्तित होती चली आई है। वर्ण-व्यवस्था केवल एक पुस्तकीय आदर्श है। संभव है उसकी कभी आवश्यकता पड़ी हो परन्तु आज तो वह शोषण का एक प्रमुख माध्यम बनी हुई है। जाति को पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार निर्धारित कहना मूर्ख बनाने का प्रयास है। इसमें एक वर्ग के दूसरे वर्ग द्वारा शोषण की भावना बनी रहती है। एक वर्ग जब एक बार नीचे आ गया तो फिर उसे सिर उठाने का साहस ही नहीं हुआ और उच्च वर्ग वालों ने उसे उठने न देने के लिये स्वार्थपूर्ण विधान बना डाले।

वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध समय-समय पर बहुत से आन्दोलन हुए, परन्तु आज तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। हम इस दुर्भाग्य के कारण सदियों तक दासता की जंजीरों से जकड़े रहे। कभी-कभी इस व्यवस्था के विरुद्ध अभियान चलाने वालों को ऊंचा पद मिल गया, परन्तु साधारण जनता उसी प्रकार दासता का बोझ उठाती रही है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा समाज अभी तक मानवता की आदिम अवस्था में है और डार्विन का सिद्धान्त पूरी तरह काम कर रहा है और हमें सभ्य बनने में हजारों वर्ष लग जायेंगे।

रविदासजी ने अपने समय की बिगड़ी सामाजिक अव्यवस्था को देखते हुए कहा था :—

**जात जात में जात है**
**ज्यों केलन में पात**
**रविदास ना मानुष जुड़ सके**
**जो लौं जात न जात ।**

उन्होंने यह भी कहा था :

**रविदास जन्म के कारने होत न कोई नीच**
**नर कूं नीच कर डारो है ओछे कर्म की कीच ।**

परन्तु यहां तो ओछा कर्म परंपरागत और जाति भी परंपरागत थी :

**जात भी ओछी करत भी ओछा**
**ओछा कसब हमारा ।**

यह सब देखते हुए वे रोये भी और उन्होंने प्रताड़ना भी दी कि एक भगवान के लिए दो फिरके हिन्दू या मुसलमान नहीं हो सकते, या तो फिरके गलत हैं या भगवान । उसी प्रकार एक मानव जाति में जिसका हृदय भगवान का सिंहासन है अनेक जातियां नहीं हो सकतीं—सभी मनुष्य एक ही तरह उत्पन्न होते हैं शरीर के विभिन्न अंगों से उसका उत्पन्न होना झूठी बात है । उसको पशुत्व की ओर धकेलना महापाप है । बुरे कर्म से ही आदमी बुरा होता है । जाति से कोई बुरा या नीच नहीं होता । एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में कोई भेद नहीं है :

**काम क्रोध मद लोभ तजि—करत धरम कर कार**
**सोई ब्राह्मन जानिहि, कहि रविदास विचार ।**

समय पाकर दलित वर्ग के संतों ने अपने दुःख की कहानी को अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्त कर डाला । मुस्लिम-आक्रमण विकार-ग्रस्त हिन्दू समाज के लिए एक नश्तर का काम कर गया था और एक वरदान सिद्ध हुआ । इस प्रकार सुसंस्कृत, दृढ़

और शक्तिशाली तथा सरल इस्लाम ने हिन्दू समाज की नींव के पत्थरों को हिला दिया जिनकी चीत्कार ही संत वाणी है। इस चीत्कार ने पुरानी संस्कृति की रक्षा करने के लिए आवाजें दी और कहा कि नकली और काल्पनिक विचारों को त्याग दो और सत्य की बेड़ियां तोड़ दो तो गिरती दीवार बच जायेगी। आज हम इन संतों की हंसी उड़ाते हैं कि इन नींव के पत्थरों को बोलने का अधिकार किसने दिया—कैसी विडम्बना है।

अध्ययन, दर्शन, अध्यात्म और परमात्मा अथवा जीव और ब्रह्म केवल रहस्य हैं और विचारों की ही कृतियां हैं। विचारों का अस्तित्व सदा स्वतंत्र है। आज भी विचार जाग्रत हैं उस समय भी जाग्रत थे। धर्म के नाम पर जो नींवों में चुने गये थे उनकी भी देखभाल करना समाज का धर्म है। जो धर्म सभी अंगों की सुरक्षा और वृद्धि की बात नहीं सोचता वह धर्म नहीं, अधर्म है। हम जो भी कुछ करते हैं भगवान के लिए करते हैं, क्योंकि हरेक हृदय में भगवान बसा हुआ है, यही धर्म है, यही वैष्णव धर्म है जो जीव-मात्र पर दया करता है—भगवान के जीवों को सता कर परमात्मा की प्राप्ति दुर्लभ है। आणविक काल में हम पुरानी हड्डियां गले में डाल कर नहीं फिर सकते।

**जन्म सै मानुष होत यह सब जानत संसार**
**बंचक सूद्र बतावहिं—कहै कबीर पुकार।**

तात्पर्य यह है कि जन्म से कोई शूद्र नहीं पैदा होता, मनुष्य पैदा होता है। ये भेद-भाव काल्पनिक ह, यही सत्य है। गुरु रविदास ने वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध, एक अभियान छेड़ा था। दलित वर्ग की वाणी उनके द्वारा मुखरित हुई थी। उनका कहना था कि केवल उच्च वर्ग में जन्म लेने से ही कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता। ब्राह्मण वह है जिसने काम, क्रोध, मोह और तृष्णा आदि विकारों पर विजय पा ली है और ब्रह्ममय हो गया है :

**ऊंच कुल के कारने ब्राह्मन् कोय न होय**
**जो जनहै ब्रह्मन आत्मा, रविदास कह ब्रह्मन सोय।**

उन्होंने क्षत्रिय उसे कहा है जो दूसरों के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दे और वैश्य वह है जो सत्य का व्यापार करे, जिसकी हाठ (दुकान) सुकृत की हो और तराजू सत्य की। गुरु रविदास ने सत्य का व्यापार किया था "मैं राम नाम धन लाधिया विष लादी संसार"।

**दीन दुखी के हेत जो वारे अपने प्रान,**
**रविदास उह नर सूर को, सच्चा छत्री जान ।**
**सांची हाटो पैठकर सौदा सांचा दे,**
**तकरी तोल सांच की, रविदास वैस है सोय ।**

रविदास के शूद्र की परिभाषा :

**रविदास जो अति पवित्त है सोई सूदरजान**
**जउ कुकरमी असुध जन, तिन्हहोन सूदर मान**

उसके अनुसार जाति कर्म के अनुसार निश्चित होनी चाहिए न कि वंश परंपरा से । उनके लिए समस्त मानवता ही एक जाति है और जब तक जातिवाद नहीं मिटता, भावनात्मक एकता नहीं उत्पन्न हो सकती ।

**जात-जात में जात है ज्यों केलन में पात**
**रविदास मनुख ना जुर सकैं जों लौं जात न जात ।**

धर्म का काम मानव-मानव में प्रेम पैदा करना और दया तथा सेवा की भावना जागृत करना है । जब तक हम सभी धर्मों में इस भावना का दर्शन नहीं करते सभी धर्म-ग्रन्थ बेकार हैं ।

**कृष्ण करीम, राम हरि राघव जब लग एक न पेषा**
**बेद-कतेब-कुरान-पुरानक, सहज एक नहिं वेषा ।**

यही बात कबीर ने भी कही है :

**भाई रे दुई जगदीश कहां से आया**
**अल्लाह राम करीमा कैसो, हरि हजरत नाम धराया ।**
**गहना एक कनन ते गहना, इनिहि भाव न दूजा ।**
**कहन सुनन को दुई करि थापिनि, एक नमाज एक पूजा ।**

—कबीर

अध्याय—9

# गुरु रविदास की अष्टांग साधना

श्री परसुराम चतुर्वेदी ने गुरु रविदास की अष्टांग साधना का 'उत्तर भारत की संत परंपरा' में विशद वर्णन किया है। अष्टांग साधनाको तीन भागों में बांटा गया है: बाह्य अंग, आन्तरिक अंग और अन्तिम अवस्था। इसमें पहले दो वर्गों के तीन भेद हैं और अन्तिम के दो। ब्रह्मग्रनुभूति के लिए सदन, सेवा,सतं, नाम, ध्यान, प्रणीत, प्रेम और विलय या सायुज्यता आठ अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। यह मुक्ति का सहज (सरलतम) मार्ग है। डा० परसुराम चतुर्वेदी ने सदन को गृह और विलय को सामाधि कहा है।

सदन में गृह या गृहस्थाश्रम का पालन सहज-योग की प्रथम सीढ़ी है। यहां सदन का भाव सदाना या शिक्षण के अनुरूप साधन या साधना के निकट है जिसका अर्थ है आत्म-निग्रह। इस्लाम के आने से पहले भक्ति का रूप एकान्तिक था जिसमें गृह त्यागकर सन्यास लेने और निहंग-वृत्ति को ही श्रेष्ठ समझा जाता था, गृहस्थाश्रम की उसमें कोई मान्यता नहीं थी। इस्लाम में भक्ति प्रवृत्यात्मक थी। सदन-भाव प्राकृतिक और स्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हुए उससे उठकर पारमार्थिक जीवन की ओर उन्मुख होना सहज-साधना का आवश्यक अंग माना गया है। उसी के कारण संतों ने व्यक्तिगत-स्वार्थ से ऊपर उठकर सामाजिक-चेतना को जगाया था और लोक-सेवा तथा समाज-कल्याण का बीड़ा उठाया था।

एक आदर्श-गृहस्थ की तरह रहकर निष्काम-भाव से कर्तव्य का पालन करते-करते भी मनुष्य सहज-भाव से परमात्मा में अनुरक्त होकर उसमें आत्मसात हो जाता है। गृहस्थाश्रम में काम, क्रोध, भय, लोभ और ईर्ष्या के विकारी भावों से सहज में ही मुक्ति मिल जाती है। इस योग में इस भावना को परिपक्व करना पड़ता है कि जो कुछ संसार में मिला है वह भगवत् कृपा से मिला है और उसी का है—हम तो केवल देखभाल कर रहे हैं। गुरु रविदास गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए अपने परंपरागत व्यवसाय को करते थे, निःस्पृह और संतोष के साथ हरेच्छा के अनुसार

जीवन व्यतीत करते थे। ईमानदारी से कमा कर खाना, थोड़े में संतोष रखना और सेवा, उनका नित्य का कर्म था। ज्यादा से विकार बढ़ते हैं तथा तृष्णा और असत्य का उदय होता है।

**जो कुछ मिल आन आखत सों**

**सुत दारा सिर मेले।**

उनके लिए धर्मानुकूल गृहस्थ का पालन करना एक प्रकार का संन्यास ही था। उनकी प्रवृत्ति सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते और नित्य कर्म करते हुए प्रभु में लगी रहती थी। इसलिए वे गृहस्थ में रहकर भी निर्लेप थे। इसी का नाम सहज योग है। इसके विरुद्ध गृहस्थ से संन्यास लेने वाले लोगों ने उस समय भोग विलास और अनैतिक कार्यों में ही जीवन व्यतीत करना प्रारंभ कर दिया था तथा देवालय विलासिता के अड्डे बन गये थे।

सेवा भावनात्मक प्रवृति है। प्रवृत्यात्मक भक्ति में गृहस्थाश्रम का आदर होता है और यह साधना व्यक्तिगत स्वार्थों से उठाकर मनुष्य को सामाजिक चेतना की ओर अग्रसर करती है। बाह्याडम्बरों को त्यागने से साधु सेवा ही एक माध्यम रह जाता है, जिससे सत्संगति की प्रवृति जाग उठती है। सत्संगति से निरंतर आत्मा का दर्पण पवित्र ोता रहता है, जिससे भक्ति ृढ़ होती है और आन्तरिक साधना से सत्य के दर्शन सुलभ हो जाते हैं। सत्य के दर्शन से मानव मात्र में परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं। सेवा से ही भ्रातृभाव की भावना जाग्रत होती है और सुख-शान्ति का विस्तार होता है। सेवा नवधा भक्ति में पर सेवा भी हो सकती है। निर्गुण भक्ति में साधु सेवा ही सेवा है।

संत-सत्संग स्थिरता का नाम है। 'रंग लागत लागत लागे डर भागत भागत भागे, संत ब्रह्म सब एक है सत्व शुद्धि से सत् तत्व सत्व की प्राप्ति होती है। सत् तत्व परमात्मा की सत्ता या उसके होने की भावना की ओर संकेत करता है। सत् का भाव और उसकी स्थिरता जिसमें है वही ंत है-"संत तुझि तनु संगति प्रान" संतों की संगति या सत्संग से सत्य के दर्शन होते हैं। जिसे परिचय कहते हैं। उसी से भावभक्ति दृढ़ होती है। ब्रह्म का ज्ञान अनुभव उद्भूत है, परन्तु सत्संग से संग, त्याग, निवेदन, विदेह स्थिति अलिप्तता सहज स्थिति और उनमनि का भाव दृढ़ होता है। सेवा के बिना सत्संग नहीं मिल सकता। बुद्धि की चंचलता के कारण सत्संग की निरंतर आवश्यकता होती है।

नामस्मरण के सत्य ज्ञान की झांकी सत्संग से प्राप्त होती है जिसे परिचय कहते हैं,उस के बिना नामस्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि नामस्मरण में भाव का उदय होना आवश्यक है। नामस्मरण में श्रवण-कीर्तन भी समाहित है।

**सतयुग सत् त्रेता जगी, द्वापर पूजा चार——**

**कलि केवल नाम आधार।**

शास्त्रों में नाम जपने का अधिकार सभी लोगों को है। नामस्मरण सरलतम साधना है।

## ध्यान

नामस्मरण से भाव पैदा होता है, भाव ध्यान में परिवर्तित हो जाता है। ब्रह्मों-पासना में ध्यान, स्मरण और चिन्तन का विशेष महत्व है।

**हृदय सुमिरन करौ नयन अवलोकना**

**साधु संगति विनभाव नहीं उपजै**

ध्यान के द्वारा ही सहज सुन्न की ओर प्रगति होती है जहां परमात्मा का निवास है :

**ऐसा ध्यान धरौ बनवारी**

**मन पवन दृढ़/सुखमन नारी।**

यही सहज भक्ति है जिसमें ध्यान के द्वारा ही योग साधना क मार्ग पर सहज प्रगति होती है।

## प्रणति भक्ति

भाव भक्ति से आत्म समर्पण और आन्तरिक साधना की वृद्धि होती है। सत से परिचय होने पर मनुष्य विवेकशील बन जाता है उसे ग्राह्म-अग्राह्मका ज्ञान होता है, तभी वह हंस कहलाता है। यह ज्ञान उसे सुकृत की ओर अग्रसर कर देता है। अपना-पन मिटाकर मनुष्य आत्मसमर्पण करता है, मिलन के विरह में तड़पता है और अपने प्रियतम परमात्मा को पुकारता है। आत्मनिवेदन करता है और परमात्मा से प्रेम की भीख मांगता है। परमात्मा दयालु है वह उसे हृदय से लगा लेता है यही प्रेम-भक्ति है।

## प्रेम

अनन्य प्रेम बढ़ते-बढ़ते तदात्मय की ओर ले जाता है, जिससे भव-बंधन छूटने लगते है। ज्ञान-ध्यान, भक्ति-मुक्ति की आशा दूर पड़ जाती है। भगवान प्रेम के वश में होता है, प्रेम बलिदान का नाम – आपा मेटने का नाम है। मोह से बलिदान नहीं हो सकता।

**जउ हम बांधे मोह फांस**
**हम प्रेम बंधनि तै बांधे**
**अपने छुटन को जतन करौ**
**हम छुटै तुम्हें आराधै।**

प्रेम के बंधन से परमात्मा को भी छूटना कठिन है।

**हरि बिन जीवन कैसे राखूं**
**विरह तपै तन अधिक जरावै**
**नींद न आवै भोज न भावै**

**कहै रैदास अदेशा ये ही**
**बिन दरसन क्यों जिवहि सनेही।**

कबीर ने कहा है :

**अन्न न भाये, निंदिया न आवैं।**
**बार-बार मोहे विरह सतावैं।**

जिस को एक बार इस सत्य का अनुभव हो गया कि जीव परमात्मा का ही अंश है और उससे बिछुड़ा हुआ है तथा संसार में भटक-भटक कर दुःख उठा रहा है उसके मिलन की उत्कण्ठा विरह की अग्नि में परिवर्तित हो जाती है। तब वह इस प्रकार से तड़पता है जैसे बिना पानी मछली तड़पती है–"जा तन लागै वही तन जानै" फिर एक बार समर्पण करने के पश्चात मिलन के बिना जीना दूभर हो जाता है। पहला कवि तो वियोगी था ही, हर भक्त वियोगी होता है। कबीर ने कहा है–"जा से नाता अगम का बिछड़ गया वह ठौर" यह वापिस जाने की तड़फन जिसे पैदा हो गई उसका काया कल्प हो गया।

**सो कह जाने पीर पराई जाके अन्दर दरद न पाई**
**दुखी दुहागनि दुइ पख हीनी**
**जिनि नाह निरंतरि भगति न कीनी ।**

**सुख की सार सुहागिन जान**
**तज अभिमान सुख रलिआ मानै**
**तन-मन देय न अन्तर राखै**
**राम रसादन रसना चाखै ।**

—रबिदास

## समाधि

अष्टांग भक्ति की अंतिम अवस्था विलय या समाधि है । जहां प्रेमी और प्रेमिका का भेद मिट जाता है, नदी सागर में मिल जाती है, तरंगें समुद्र में विलीन हो जाती हैं, फिर बिछुड़ने का भय नहीं रहता । समर्पण-स्वीकारिता और समाधि या विलय, प्रेम-मिलन या भक्ति की तीन अन्तिम अवस्थाएं हैं । बिना मिलन के उदासी या उनमनि छायी रहती है—एक-एक पल भारी हो जाता है—मिलन का अनुभव वर्णनातीत है :

**गुरु की सांटि ज्ञान का अच्छर**
**विसरै तो सहज समाधि लगाऊं ।**

एक बार मिलने पर जाने देना अथवा पाकर खोना कठिन है । क्योंकि बिछुड़ कर तो जन्म-जन्मान्तर बिता दिये, इस सुअवसर को खोना कठिन है ।

**बहुत जनम बिछुरे थे माधव, इहु जनम तुमारे लेखे ।**

वच्चा जैसे मां से लिपट जाता है, आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है । गुरु रविदास की यह अष्टांग साधना मनोवैज्ञानिक और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई । श्रद्धा, बाह्य साधना और सत्संग से जिस आलौकिक प्रेम का बीजारोपण हुआ था वही विकसित होकर आत्मा का परमात्मा में एकीकरण का साधन बना । साधन के सभी बाह्य रूप विलीन होते-होते भाव भक्ति की व्यग्रता में परिवर्तित हो गये । प्रेम ही आमूल भूत प्रेरक है उसी ने सरल, सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति के द्वारा जीवन को सार्थक बनाया, जो सदा-सदा के लिए जन-साधारण की प्रेरणा का स्रोत बन गया ।

अध्याय–10

# उपसंहार

संतकाल में परंपरा से चली आ रही भक्ति-भावना का चरमोत्कर्ष हुआ था। इस दृष्टयमान जगत के पीछे किसी सत्य के होने में आस्था और अज्ञात की खोज प्रत्येक भावुक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह आस्था इष्ट के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसी विचारधारा को सुसंस्कृत कहे जाने वाले समाज ने शास्त्रों की कोठरियों में बन्द करके रख दिया था और उसको एक जातियता का रूप दे दिया था। संतों ने यह कोश मुट्ठी भर-भर कर श्रद्धालुओं को लुटा दिया, यही उनकी विशेषता थी। वैदिक ऋषियों ने इष्ट का भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में आह्वान किया था जो कालान्तर में सारहीन कर्म-काण्ड में परिवर्तित हो। गया उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही दो विचारधाराएं जाग्रत हुईं। एक ओर उपनिषदों का आत्म-विचार जो वेदान्त के रूप में परिवर्धित हुआ और उसी के अनुभूत षड्दर्शन आदि शास्त्रों का प्रतिपादन हुआ तथा समय पाकर वैदिक देवताओं की श्रद्धा शैव और वैष्णव भक्ति में परित हो गई। ये सभी विचारधाराएं आस्तिक और वैदिक परंपरा के अनुसार मानी गई हैं, यद्यपि इनमें वेद-विरुद्ध विचार भी हैं। इसी समय दूसरी ओर एक नास्तिक विचारधारा का भी उदय हुआ जो वेदों में आस्था नहीं रखते थे। उनमें जैन और बौद्ध विचारधाराएं प्रमुख हैं, जिन्होंने आत्मा-परमात्मा की सत्ता को नहीं माना और वेदों की अधिकारिता को भी नहीं स्वीकार किया। उन्होंने चरित्र-निर्माण पर ही जोर दिया और आचार-संहिता को ही धर्म की संज्ञा दी।

परमात्मा की दया के द्वारा आत्मोद्वार की भावना का श्वेताश्वेत्तर उपनिषद के काल में ही उदय हुआ था। गीता में भक्ति के सभी सिद्धान्त मिलते हैं, परन्तु उसमें ज्ञान और कर्म की उपयोगिता का भी समावेश है। भागवत् काल में भक्ति की महत्ता और भी बढ़ गई। लगभग सभी संत भागवत् भक्ति भावना से प्रभावित हैं। इसी भक्ति को सात्वत क्षत्रियों ने संरक्षण दिया जो उत्तर से दक्षिण में ले गये, अडवार और अलवार शैव तथा वैष्णव भक्तों ने अपनाई और परिवर्धित की। जैन और बौद्ध धर्मों के ह्रास के कारण दक्षिण में इस भक्ति-धारा का बहुत प्रचार हुआ, जिसमें

बौद्धों की मूर्तिपूजा-साधना, सदाचार-सन्यास की भावनाओं और धर्मप्रचार के साधनों का भी समावेश हो गया। यह एकान्तिक साधना विष्णु और शिव को एकेश्वर मानकर समर्पण की भावना के साथ प्रचलित हुई थी। इस भक्ति-धारा को यमुनाचार्य, रामानुजाचार्य और कुमारिल भट्ट ने शास्त्रीय आधार-प्रदान किया जो समय पाकर बहुत जटिल हो चुका था और केवल पुरोहित वर्ग तक ही निहित हो चला था। इस परंपरा में दार्शनिक गहराइयों की कमी नहीं थी, परन्तु उसमें अभी तक मानवीय विचारों की कमी और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की अधिकता थी। धर्म और भक्ति भावना इन विचारों में भरी थी। मानवता के जो विचार शास्त्रों मे पाये गये हैं उनके कारण सर्व-साधारण तक उनकी पहुंच नहीं थी। जनसाधारण तथा बहुसंख्यक लोगों का इसमें कोई हाथ नहीं था। अधिकतर लोग परंपरागत देवताओं (गृह देवता, ग्राम देवता) की ही पूजा करते थे। बौद्ध काल के ह्रास के साथ-साथ बहु देवतावाद का भी प्रचार हुआ था। जातियों के सम्मिश्रण के कारण जन-जातियों के देवता और मातृ-देवियों के सम्मिश्रण ने नये देवताओं के रूप धारण कर लिये थे।

इस्लाम और सूफी मत के प्रभाव से इस भक्ति भावना में एक नयी चेतना का संचार हुआ और भक्ति क्षेत्र में भाईचारे और समानता की भावना जागृत हुई जिसके कारण बहु संख्यक लोगों को भी सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। इस परंपरा में परमात्मा में अटूट प्रेम, तन्मयता और मिलन की उत्कंठा, एक नई बात थी, जिसमें सूफी प्रभाव विदित था। सूफियों का प्रेम-संदेह बहुत प्रभावशाली और ग्राहय रहा है। इस्लाम एक सरल और भक्ति पूर्ण धर्म था।

उत्तर में बौद्ध-धर्म का महायान सम्प्रदाय मंत्रयान में परिवर्तित हो गया और फिर योग और सांख्य दर्शनों के प्रभाव से वज्रयान तथा सहजयान में परिवर्तित होता गया, जिनसे वशै मत के प्रभाव के कारण सिद्ध और नाथ संप्रदायों का उदय हुआ। दक्षिण की वैष्णव भक्तिभावना की महाराष्ट्र में शैव सिद्धांतों के सम्मिश्रण से जो एक नई रूप रखा बन चुकी थी स्वामी रामानन्द के द्वारा उत्तर में प्रचलित हुई और सहजयान, नाथ आदि संप्रदायों का प्रभाव लेती हुई, संतों द्वारा एक नई और अनोखी विचार-धारा में परिवर्तित हो गई। इसमें सभी परंपरागत विचारों की अच्छी बातों का समावश था जो अहिंसा, एकेश्वरवाद और जाति-विरोधी भावनाओं से ओत-प्रोत थी। इसमें नामस्मरण की प्रमुखता थी जो धीरे-धीरे निराकार निर्गुण की उपासना में बदल गई।

83-M/P(D)600MofIB—8

इस समय समाज में पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता थी। इस्लाम के आने से पहली बार भारतीय संस्कृति पर एक भारी चोट पड़ी थी। इस्लाम एक नई चेतना लेकर आया था, परन्तु विजेता होने के कारण उसमें हठधर्मिता और अनुदारता की भावना भरी पड़ी थी। उसका इससे पहले किसी समुन्नत संस्कृति से पाला नहीं पड़ा था। हिन्दू धर्म विचारों में तो उदार था, परन्तु सामाजिक गठन में कट्टर था। इसके विरुद्ध इस्लाम में भाई-चारे और बराबरी की भावना प्रचुर थी। परन्तु मुस्लिम शासक वर्ग में विलासिता बढ़ चुकी थी। हिन्दू उच्चवर्ग की भी यही अवस्था थी। चारों ओर स्वार्थपरता छाई हुई थी। जनसाधारण को कोई पूछने वाला नहीं था। शोषित वर्ग निष्प्राण था। उसकी यातनाएं और भी बढ़ चुकी थीं। दोनों वर्गों में अहंकार और हठ-धर्मिता पूर्णतया जाग्रत थीं। राजनैतिक क्षेत्र में पराजित होने के कारण हिन्दुओं में निराशा के बीज उत्पन्न होते जा रहे थे और हीन भावना जागृत हो चुकी थी और आपस में वैमनस्य की भावना का जोर था।

इस समय एक नई चेतना की आवश्यकता थी जो समाज में परिवर्तन लाये इस्लाम के प्रभाव से दलित वर्ग में भी कुछ चेतना आनी प्रारम्भ हो गयी थी। पर शोषण की प्रगति दोहरी होती जा रही थी। इसलिए शक्तिहीन दलित समाज भक्ति की ओर झुका था। क्योंकि ये लोग पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिए उनकी प्रतिभा ने आत्मचिन्तन और नामस्मरण का स्थान ले लिया और उन्होंने परंपरागत भक्ति-धारा का सरलीकरण किया जो अब तक बहुत जटिल हो चुकी थी और सर्वसाधारण की पहुंच से बाहर थी। उन्होंने उस समय की प्रचलित सभी विचारधाराओं का समाहार करके एक नई और मौलिक विचारधारा की नींव डाली, जिसमें असत्य, काल्पनिक और निरर्थक भावों का समावेश नहीं था।

इस्लाम के आने से हिन्दुत्व की नींवें हिल गयीं थीं। उन्हीं नींव के पत्थरों ने समाज को एक नई चेतना देने का संकल्प किया और परंपरागत मान्यताओं, धार्मिक आडम्बरों और बाह्यचारों के बोझ को, जो झगड़ों का कारण था, समाप्त कर भाव-भक्ति और वैचारिक साधना पर बल दिया तथा धर्म और भक्ति को सरल बना-कर उसे मानव-मात्र के लिए सुलभ कर दिया। उन्होंने धर्म, जाति और वर्ग के भेद-भावों को मिटाकर भावनात्मक एकता की नींव डाली। यह विश्वभ्रातृत्व का एक नवीन संदेश था, जिससे मानवता को सार्वभौमिक स्वातन्त्र्य की प्रेरणा मिली और उसके द्वारा सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास की नींव रखी गई।

संतों की साधना और चरित्रबल ने उनके विचारों की प्रमाणिकता को दृढ़ आधार प्रदान किया था। वे क्रान्ति के स्थल आन्दोलन के पक्षपाती नहीं थे । उनका आन्दोलन आध्यात्मिक और सूक्ष्म था । संतों की निरक्षरता ने धर्म-ग्रन्थों और पुरोहितों की परंपरागत अनुदार विचार-धाराओं और सांप्रदायिक भेद-भावों से मुक्ति दिलवाई । भेद का कारण केवल इन धार्मिक ग्रन्थों के शब्दों के भावों को न समझना, अपने पराये की भावना और मतमतान्तर हो थे। धार्मिक भेद-भावना केवल बाह्याडम्बरों और कर्मकाण्ड के कारण होती है। संतों ने सभी संप्रदायों की अच्छी बातें ग्रहण की थीं। परन्तु व फिर भी किसी संप्रदाय से संबन्धित नहीं थे। भक्ति द्वारा उन्होंने सत्य से साक्षात्कार किया था और उसके द्वारा चमत्कारों का सहज प्रदर्शन हुआ था। अगर ऐसा नहीं होता तो उन्हें एक साधारण धर्म-प्रचारक मानकर कौन उनका सत्कार करता। आत्म-गौरव प्राप्त करक ही उन्होंने धर्म-प्रचार की अधिकारिता प्राप्त की थी और समाज के लिए सत्य का मार्गदर्शन किया था। अन्याय का विरोध करके जो उन्होंने कष्ट सहन किये थ उसी के द्वारा उन्होंने अपनी अधिकारिता की पुष्टि की थी। अधिकारिता के कारण ही उनकी वाणी में दृढ़ता और प्रताड़ना की भावना थी जो उनकी आत्म-शक्ति से मिलकर एक आध्यात्मिक आन्दोलन का रूप धारण कर गई थी।

गांधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन सरल, शान्तिपूर्ण और अहिंसावादी सिद्धांतों पर आधारित था, परन्तु दृढ़ था। संतों का आन्दोलन भी अहिंसावादी और दृढ़ था जिसके पीछे आत्मबल की पराकाष्ठा छिपी थी जो उनको भक्ति द्वारा प्राप्त हुई थी और जीव दया तथा मानव-प्रेम पर आधारित थी। उनकी उच्चतम सिद्धि यह थी कि उन्हें हर वस्तु में परमात्मा के दर्शन होते थे। वे समाज के अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए अवतरित हुए थे। मानव-प्रेम ही उनके लिए भगवत-प्रेम था। उनके लिए सम्प्रदाय, फिरकों और उस धर्म की कोई मान्यता नहीं थी जो समाज में भेद डाले । उनके लिए सभी धर्म-ग्रन्थ निरर्थक थे जब तक कि वे मानव में भेद के मिटाने में सफल न हों। उनके लिए वही धर्म था जो मानव को सुकृत की ओर प्रेरित कर और पशुत्व से उठाकर देवत्व की ओर ले जाये। विद्याहंकारी कूप-मंडूक अंधविश्वासी लोगों को तो उनके विचारों से चिढ़ होनी ही थी, परन्तु जनसाधारण को उनकी आवश्यकता थी, इसलिए उन्होंने उनको अपनाया।

गुरु रविदास की भक्ति जन्मजात और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण श्रद्धा और प्रेम से जागृत हुई थी तथा सत्य और दया से प्रवर्धित हुई थी। परिस्थितियों ने

उसको और भड़का दिया । प्रचलित मान्यता के अनुसार उन्होंने परंपरागत अर्चन-पूजन बाल्यकाल से ही प्रारंभ कर दिया था । उनकी अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा और अतृप्ति की भावना ने उन्हें स्वामी रामानन्द तक पहुंचा दिया जो भक्ति को नई दिशा प्रदान करने आये थे तथा जिन्हें इस्लाम की तीव्र धारा , हिन्दुओं की पराजय और सूफियों की प्रेम विह्वलता का पूर्ण ज्ञान था । उन्होंने ही "रंरमाय नमः" का मंत्र दिया था, जिसमें विष्णु की जगह राम-सीता की पूजा का प्रचार था । रविदास इस प्रकार सगुण साधना में लगे थे, परन्तु धीरे-धीरे उनका राम अजपा और भाव-भक्ति में परिणत हो गया और उनका ध्यान मूर्ति की ओर से हटकर निर्गुण-निराकार की की ओर चला गया । भक्ति द्वारा अब वे आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन करने लगे थे । उनका राम अब इष्ट से व्यापक ब्रह्म में परिवर्तित हो चला था । जिसे वह बाहर ढूंढ़ते थे वह उनको अन्दर (अन्तर में) ही मिल गया था । उनका वेद वेदान्त में बदल गया था । वे अब चराचर सभी में ब्रह्‌म के दर्शन करने लगे थे उनका इष्ट अब ज्ञान-स्वरूप ज्योति-स्वरूप था । वे प्रत्येक आत्मा में परमात्मा का दर्शन करने लगे थे । वह अब मानव निर्मित भेदों से ऊपर थे ।

रविदास जी ने भक्ति द्वारा उस सत्य से साक्षात्कार किया था जो उन्हें जीवमात्र में दिखाई दिया था, जिसका कोई नाम-रूप नहीं था । नाम अब सत्य में बदल चुका था जैसे बीजगणित का 'अ' उत्तर में बदल जाता है । दृष्टि के व्यापक होने से उनको मानव-मात्र से प्यार हो गया था, जिनकी सेवा और दुःख निवारण उसी सत्य का दूसरा रूप था काल्पनिक विचार और शोषण ही असत्य था । जिस अज्ञात की खोज में वे एक भोले शिशु की तरह हर वस्तु में चोंच मारते रहे थे वह अधिकतर काल्पनिक और झूठा ही निकला था । उनकी एकान्तिक पूजा तथा व्यक्तिगत इष्ट साधना की भावना स्वार्थपूर्ण सिद्ध हुई थी, अब वह उससे ऊपर उठकर सच्चे ब्रह्‌म के दर्शन करने लगे थे और प्रवृत्यात्मक भावना से सामाजिक चेतना की ओर झुक गये थे । जिस भक्ति के द्वारा उनको यह चेतना मिली थी उसको वह अब मानव मात्र का जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगे थे । मानव जीवन बार-बार नहीं मिलता । किसी समाज को धोखा देकर उसमें यह भावना पैदा कर देना कि अगले जन्म में भक्ति का अधिकार मिलेगा एक ब्रह्म हत्या से कम नहीं है । भगवान के दरबार में मानव-मानव में कोई भेद नहीं, ये मानव निर्मित भेद सभी झूठे हैं । भगवान की ज्योति हर जीव में व्याप्त है । इस लिए जीव-दया और सेवा, प्रभु सेवा है, यही भक्ति-आन्दोलन का नया मोड़ था । जो इष्ट में विश्वास नहीं करते वे दैवी-संपदा का हर जीव में दर्शन करते हैं । सर्वत्र

आध्यात्मिक व्यापकता संतों की नई खोज है । रहस्य के स्तर पर सभी संत एक हैं । वे सारी मानवता को भी एक मानते हैं, क्योंकि धर्मों का अर्ध-सत्य उनकी दृष्टि से ओझल हो चुका होता है । उनका दृष्टिकोण सर्वव्यापी होता है, क्योंकि वे सर्वव्यापी सत्ता का साक्षात्कार कर चुके होते हैं ।

भारत भूमि पर यह पहला मानवतावादी आन्दोलन था जो एकेश्वरवाद अथवा एक ही परमात्मा का सभी घटों (प्राणियों) में व्याप्त होने के ज्ञान द्वारा उत्पन्न हुआ था । इसलिए उस परमात्मा का साक्षात्कार होने के लिए भक्ति-साधना का सबको बराबर अधिकार था । उसी अधिकार को प्राप्त करके ही संतों ने लोगों को स्पष्ट भाषा में प्रताड़ना दी थी और जन-साधारण की वाणी में एक अनिर्वचनीय सत्य का निरूपण किया था, जो एक काव्य से कम न था । काव्य दृष्टा की एक विवेकशील अभिव्यक्ति है, इसलिए वैदिक ऋषियों को कवि और दृष्टा कहा गया है, क्योंकि वे मंत्रों को अन्तर्दृष्टि से देखकर उन्हें सुन्दर शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करते थे । स्पष्ट अभिव्यक्ति ही कला है । इस विचार से अडवार (आडियार), अलवार और मध्य कालीन भक्त सभी उसी श्रेणी में आ जाते हैं, जिसमें पुराने ऋषि थे । सभी ने लोक भाषा में अपने भावों की अभिव्यक्ति की है ।

अनुभूति ही संत-धर्म की आधार-भूमि है । व्यक्तिगत साधना के द्वारा ही ही उन्होंने सामाजिक चेतना प्राप्त की थी । मानवतावादी काव्य उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति थी, क्योंकि उस काल के भाव केवल काव्य द्वारा ही अभिव्यक्त होते थे । उनकी अटपटी वाणी ही जन-साधारण के लिए काव्य बन गई थी, क्योंकि उनके विचारों में सरलता और सर्वग्राह्यता थी । उनका शास्त्रीय या साहित्यक दृष्टि से मूल्यांकन करना उनके साथ अन्याय करना है । उनका अनिर्वचनीय ब्रह्म किसी सांप्रदायिक या शास्त्रीय कोटि में नहीं रखा जा सकता । वह गुणातीत और केवल अनुभूति का विषय है । उसकी केवल नेति-परक परिभाषा ही की जा सकती है । सृष्टि ब्रह्म का विस्तार (अभिव्यक्ति) है । अग्नि-स्फुलिंगवत जीव में ब्रह्म के सभी गुण हैं । जीव का उद्देश्य ब्रह्म से तदात्म्य पैदा करना है जो भेद मूलक है । माया इच्छा बीज से ही सभी विकार और भेद पैदा करती है ।

गुरु रविदास ने सहज भक्ति को ही अपनाया जो सांसारिक कार्य-कलापों को करते हुए ही ध्यान साधन की प्रक्रिया है । उन्होंने पुस्तकीय ज्ञान की निंदा की, क्योंकि सांप्रदायिक लोग पुस्तकों के मूलभाव को ठीक नहीं समझते । पारमार्थिक विचार

आत्मा से ही उदय होते हैं, जिनको शब्दों द्वारा पूर्ण रूप से दूसरे तक नहीं पहुंचाया जा सकता, इसलिए गुरु की आवश्यकता होती है। पुस्तकबद्ध शब्द इसीलिए गलत-फहमी का माध्यम बनते हैं और उससे झगड़े पैदा होते हैं। आत्मा के स्वयंसंवेद गुण की कभी-कभी साहित्यकार भी अनुमोदन नहीं करते हैं। संतों को अपने विचारों की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए कष्ट सहने पड़े, क्योंकि उस समय तक परंपरागत विचारों में विकृति आ गई थी।

संतों ने धर्म के बाह्याडम्बरों और कर्मकाण्डों को त्यागकर केवल नामस्मरण और भाव-भक्ति पर ही जोर दिया, जिससे धार्मिक कुटिलता दूर हो। उनका सहायक गुरू है जो विचारों का सार ही प्रदान करता है और भटकती आत्मा को सही मार्ग का दर्शन कराता है, जिसके द्वारा भाव और शब्द जीवित रूप में ही उपलब्ध होते हैं (वही साक्षात गुरु है), क्योंकि उसने साक्षात सत्य के दर्शन कर लिये हैं।

श्रद्धा के साथ-साथ भक्ति-साधना में भगवत् कृपा का भी बड़ा महत्व है जो लगातार भक्त को सुकृत में लगाये रखती है और सत्संग उसकी आस्था के दर्पण को नित्य स्वच्छ करता रहता है। सत्कर्म (सुकृत) सद्गुरु और सत्संग संत के तीन संबल हैं। उनकी वाणी में तड़पा देने वाला व्यंग होता है, क्योंकि जिस सत्य का वे वर्णन करते हैं वह अंधविश्वासी लोगों की पहुंच से बाहर होता है। भगवान के सामने दीन-भावना और विनय के बिना अहंकार को मिटाना कठिन होता है। उसके मिटने से ही सत्य का साक्षात्कार होता है, क्योंकि अहंकार हीनता ही सत्य है और सत्य की संज्ञा व्यापक है। गुरु रविदास के विचार सर्वग्राही और सरल थे। उनमें साम्प्रदायिकता नहीं थी, प्रत्युत मानवता की भरमार थी। संत ही भावनात्मक एकता और विश्व भातृभाव के अग्रदूत थे।

संत हिन्दू या मुसलमान नहीं थे। उनका धर्म केवल भक्ति था। उन्होंने कहा कि अल्लाह और राम की आड़ में जो अन्याय हो रहा है वह धर्म नहीं है, अधर्म है। अल्लाह या राम ने समस्त मानवता को एक जैसा बनाया, उसमें भेद नहीं रखा। भेद रखना अल्लाह का हुक्म नहीं हैं। भेद काल्पनिक हैं और स्वार्थ साधन तथा शोषण का माध्यम हैं। संत केवल सत्य धर्म के ही समर्थक थे। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से दोनों धर्मों के अनुयायियों की आंखें खोल दी थीं। उनके अनुसार मानवता की उपेक्षा करके दोनों धर्म गलती कर रहे थे। संत सत्य का जीवन व्यतीत करते थे।

कोई जाति ऊंची या नीची नहीं है, यही सत्य है। सभी जीवों के प्रति प्रेम और दया सत्य है। यही सच्चा धर्म है।

उनके इन विचारों ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया। वे कहते थे कि अगर कोई परमात्मा से तदात्म्य् चाहता है तो, उसको उसके बन्दों से भी समझौता करना पड़ेगा, क्योंकि यह संसार परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है, जिसमें वह स्वयं विद्यमान है। भगवान अपनी सृष्टि के द्वारा ही स्वयं को प्रकट करता है। अगर उसे कहीं ढूंढ़ना है तो, उसकी सर्वोत्तम कृति उसके (बन्दे) मानव से ही प्रेम करो। सूफी मत का यह भाव वैष्णव सम्प्रदाय ने ग्रहण किया था जो हिन्दू चिन्तन-धारा में एक नितान्त नई धारा का समावेश था, जिसका पहले कहीं चिन्ह् नहीं दिखाई दिया। हर वस्तु में परमात्मा के दर्शन करना सूफी सिद्धान्त है।

**बन खोजो पी ना मिला बन में प्रीतम नाहिं।**

**रविदास पी हम बसे, रहियो मानव प्रेमी माहिं।**

वे इस पीड़ा से मुक्त हो चुके थे। परन्तु निर्विकल्प अवस्था में पहुंचकर भी उनके हृदय में करुणा उदय हुई थी। भक्ति उन को सांप्रदायिक बन्धनों से ऊपर ले गई थी, जिसके द्वारा उनमें मानव-सेवा और समाज के उद्धार की भावना जाग्रत हुई। मानव-समाज की ओर समाज मानव की प्रगति में सहायक होता है। यही मानव की जन्म जन्मान्तर की साधना है। इसी के पीछे अवतारवाद की भावना छिपी है। पशुत्व से उठाकर मानवता को देवत्व की ओर ले जाने में संतों का बहुत योगदान था। गुरु रविदास को महान विचारक संत या समाज सुधारक किसी भी कोटी में रक्खें, परन्तु वे मूलतः भक्त थे। भक्ति द्वारा ब्रह्मलीन होकर वे सच्चे ब्राह्मण बन चुके थे। इसलिये, उन्होंने जातीयता पर आधारित झूठे ब्राह्मणवाद का विरोध किया था जो मानवता की प्रगति में बाधक है।

वैदिक काल का इष्ट-जातिवाद और व्यक्तिवाद अब संतों ने एकेश्वर-सम्प्रदायहीनता और समाजवाद में परिवर्तन कर दिया था। उनकी दृष्टि प्रवृत्यात्मक थी और व्यक्तिगत स्वार्थों पर आधारित नहीं थी। वही सच्चा वेदान्त था।

परिशिष्ट–1

# संत रविदास की कुछ साखियां और पद

अब मैं हार्‍या रे भाई ।
थकित भयों सब हाल चाल तें, लोकन वेद-बड़ाई ।। टेक ।।
थकित भयो गायन अरु-नाचन थाकी सेवा-पूजा ।
काम क्रोध ते देह थकित भई, और न जानौं दूजा ।।
राम-जन होउं ना भगत कहाउं, चरन पखारूं देवा ।
जोई-जोई करूं उलटि मोहि बांधे, ताथे निकट न सेवा ।।
पहले ग्यान का किया चांदना पाछे दिया बुझाई ।
शून्य सहज में दोउ त्यागे, राम कहूं न खुदाई ।।
दूरि बसै षटकर्म सकल, अरु दुःख कीन्हें सेऊ ।
ज्ञान–ध्यान दूरि दोउ कीन्हें, दूरिउ छाड़े तेउ ।।
पांचों थकित भये जहं तहं जहां–तहां थितिपाई ।
जा कारन में दौर्‍यो फिरतो, सो अब घट में आई ।।
पांचों मेरी सखी सहेली, तिनि निधि दई दिखाई ।
अब मन फूलि भयी जग महियां, आप में उलटि समाई ।।
चलत-चलत मेरो मन थाक्यो, मोपै चल्यो न जाई ।
सांइ सहज मिल्यौ सोई सन्मुख, कह 'रैदास' बताई ।।

।। 2 ।।

परचै राम रमैं जे कोई, पारस परसैं दुविध न होई ।। टेक ।।
*जो दीसै सो सकल विनाश, अनदीठै सो नहीं विसवास ।।
वर्ण रहित कहें जे राम, सो भगता केवल निहकाम ।। 1 ।।

*'गुरु ग्रंथ साहब' में यह पंक्ति निम्न प्रकार से दी हुई है :
"बिन देखे उपजै नहिं आस, जो दीसे सौ होई विनास ।"

फल कारन फूलै बनराय, उपजे फल तब पहुप बिलाय ।

ज्ञानिह् कारन कर्म कराय, उपजे ज्ञान तो कर्म नसाय ।। 2 ।।

** बटक बीज जैसा ओंकार, पसर्‍यों तीन लोक विस्तार ।

** जहां का उपज्या तहां समाय, सहज शून्य में रह्‌यो लुकाय ।। 3 ।।

** जे मन बिन्दे सोई बिन्द, अमावस में ज्यों दीसै चंद ।

** जल में जैसे तुंबा तिरै परचै पिंड, जीव नहिं मरै ।। 4 ।।

सो मन कीन जू मन को खाय, बिन दौरे त्रिलोक समाय ।

मन की महिमा सब.को कहै, पण्डित सो जौ अन भै रहे ।

कहै 'रैदास' यह परम विराग, राम नाम किन जपहु सुभाग ।

धृत कारन दधि मथै सुआन, जीवन-मुक्ति सदा निरवाण ।

।। 3 ।।

गाई-गाई अब का कहि गाऊं,
गावनहार कूं निकट बताऊं ।। टेक ।।
जब लगि है या तन की आस,
तब लगि करै पुकारा ।
जब मन मिल्यो, आस नहिं तन की,
तब कौ गावनहारा ।। 1 ।।
जब लग नदी न समुद्र समावै,
तब लग बढ़ै हंकारा ।
जब मन मिल्यौ राम-सागर सौं,
तब यह मिटी पुकारा ।। 2 ।।

---

**अंकित पंक्तियां 'गुरु ग्रंथ साहब' में नहीं हैं ।

जब लग भगति-मुक्ति की आसा,
परम-तत्व सुनि गावे ।
जहं-जहं आस धरत है यहु मन,
तहं-तहं कछू न पावै ।। 3 ।।
छाड़े आस-निरास परम-पद,
तब सुख-सत् कर होई ।
कह 'रैदास' जासूं और कहत है,
परम तत् अब सोई ।। 4 ।।

।। 4 ।।

राम जन हूं न भक्त कहाऊं, सेवा करूं न दासा ।
गुनी जौग जन कछू न जानूं, तातैं रहूं उदासा ।। टेक ।।
भगत हुआ तै चढ़ै बढ़ाई, जोग करूं जग माने ।
गुनी हुआ तैं गुनी जन कहैं, गुणी आपकूं ताने ।
ना मैं ममता मोह न महिमा, ये सब जाहिं बिलाई ।
दौजख-भिस्त दोऊं, सम जानूं, दोऊ तै तरक है भाई ।
मैं तें ममता देखि सकल जग, मै से मूल गंवाई ।।
जब मन-ममता एक, एक मन, तबहिं एक है भाई ।।
कृष्ण-करीम राम-हरि-राघव, जब लग एक न पेषा ।*
वेद-कतैब कुरान-पुरानन, सहज एक नहीं वेषा ।।
जोई-जोई पूजियै, सोई-सोई कांची, सहज भाव सत् होई ।
कह 'रैदास' मैं ताहिं कूं पूजूं जाके ठांव-नाँव नहिं कोई ।

*यहां 'ष' का उच्चारण 'ख' जैसा है ।

॥ 5 ॥

अब मेरी बूड़ी रे भाई, ताते चढ़ी लोक-बड़ाई ॥ टेक ॥
अति अंहकार उर में सत-रज-तम तामें रह्यो उरझाई ।
करम न बूझि पर्यो, नहिं सूझे स्वामी-नांव भुलाई ॥
हम मानौं गुनी जोग सुनि जुगती, महामुरूख र भाई ।
हम मानौं सूर, सकल-विष-त्यागी, ममता नहीं मिटाई ॥
मानौ अखिल शून्य मन शोध्यो, सब चेतन सुधि पाई ।
ज्ञान-ध्यान सबहि हम जान्यो, बूझौं कौन सों जाई ॥
हम जानौ प्रेम, प्रेम रस जाने, नौवध भक्ति कराई ।
स्वांग देख सबही जग लटक्यो, आपन पौर बधाई ॥
स्वांग पहर हम सांच न जान्यो, लोगन यह भरमाई ।
स्वच्छ रूप सैली जब पहरी, बोली तब सुधि आई ॥
ऐसी भगति हमारी सन्तो, प्रभुता इहइ बड़ाई ।
आपन अनत और नहिं मानत, तातें मूल-गंवाई ॥
भनै रैदास उदास ताहीं ते, अब कुछ मौपैं कर्यो न जाई ।
आपा खोये भगति होत है, तब रहै अन्तर उरझाई ॥

॥ 6 ॥

भाई रे । भरम-भगति सूंजान, जौ लौं सांच सूं नहिं पहिचान ॥ टेक ॥
भरम नाचन, भरम गावन, भरम जप, तप, दान ।
भरम सेवा, भरम पूजा, भरम सूं पहिचान ॥ 1 ॥

भरम षट-कर्म सकल संहिता, भरम गृह, बन जान ।
भरम कर-कर कर्म किये, भरम की यह बान ।। । 2 ।
भरम इन्द्री निग्रह कीयां, भरम गुफा में बास ।
भरम तौ लौं जानिये शून्य की करै आस ।। 3 ।।
भरम शुद्ध शरीर तौ लौं, भरम नांव बिनावै ।
भरम मम 'रैदास' तौ लौं, जौ लूं चाहै ठांव ।। 4 ।।

।। 7 ।।

भाई रे । राम कहां है मोहि बताओ, सत्य राम ताके निकट न आवो ।। टेक ।।
राम कहत सब जगत भुलाना, सो यह राम न होई ।
करम-अकरम करुणामय केशौ, करता नांव सूं कोई ।। 1 ।।
जा रामहिं सब जग जानत, भरम भुलै रे भाई ।
आप आप तै कोई न जानै, कहूं कौन सूं जाई ।। 2 ।।
तम रज लोभ परस जीवैं मन, गुन परसत नहीं जाई ।
अलख-नांव, जाकौ ठौर न कितहूं क्यों न कहौं समुझाई ।। 3 ।।
भनै 'रैदास' उदास ताही मैं, करता को है भाई ।
केवल करता एक सही कर, सत्त राम तिहि ठांई ।। 4 ।।

।। 8 ।।

ऐसो कछु अनुभौ, कहत न आवै, साहब मिलै तौ कौ बिलगावै ।
सब में हरि हैं हरि मैं सब हैं, हरि आपने जिन जाना,
अपनी आप, शाख नहिं दूसर, जाननहार सयाना ।
बाजीगर संग रहिये, बाजी कूं भरम हम जाना ।
बाजी झूंठ, सांच बाजीगर, जाना मन पतियाना ।।
मन स्थिर होई तो कोई न सूझे, जानें जाननहारा ।
कहै 'रैदास' विमल-विवेक सुख, सहज सरूप संभारा ।।

॥ 9 ॥

अखिल खिलै नहिं, का कहि पंडित, कोई न कहै समुझाई ।
अवरण-वरण रूप नहिं जाकै, कहं लौ जाई समाई ॥ टेक ॥
चन्द-सूर नहिं, रति-दिवस नहिं, धरनि-अकाश न भाई ।
करम-अकरम नहिं, शुभ-अशुभ नहिं, का कहि देहुं बड़ाई ॥
शीत-वायु-उष्ण, सखत, काम कुटिल नहिं होई ।
जोग न भोग रोग नहिं जाके, कहा नाम सत् साई ॥
निरंजन, निराकार, निरलेपहिं, निरिविकार, निरश्वासी ।
काम कुटिलता ही कहि, गावै हर हर आवै हांसी ॥
गगन धूर-धूप नहिं जाके, पवन पूर नहिं पानी ।
गुन-निर्गुन कहियत नहिं जाके, कहौं तो बात सयानी ॥
याही सौं तुम जोग कहत हौ, जब लग आस की फांसी ।
निर्गुन ब्रह्म निरास भजौ किन, भनै 'रैदास' उदासी ॥

॥ 10 ॥

नरहरि चंचल है मति मोरी, कैसे भगति करूं मैं तोरी ॥ टेक ॥
तू मोहि देखै हौं तोहि देखूं, प्रीति परस्पर होई ।
तू मोहि देखै, तोहि न देखूं, इह मति सब बुधि खोई ॥
सब घट अंतर राम निरन्तर, मैं देखन नहीं जाना ।
गुन सब तोर, मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना ॥
मैं-तैं तोरि-मोरि असमंजस, कैस करि निस्तारा ॥
कहै 'रैदास' कृष्ण करुणामय, जै-जै जगत-अधारा ॥

॥ 11 ॥

राम बिन संसै गांट न छूटे ।
काम, क्रोध, मोह, मद, माया, इन पांचन मिलि लूटे ॥ टेक ॥
हम बड़ कवि, कुलीन हम पंडित, हम जोगी सन्यासी ।
ज्ञानी गुणी सूर हम दाता, यहु मति करै न नासी ॥
पढ़ै गुनै कुछ समझि न परहीं, जो लौं भाव न दरसै ।
लोहा हिरन होय धौं कैसे, जो पारस नहिं परसे ॥
कह 'रैदास' समै असमंजस, भूलि परै भ्रम भोरे ।
मोर अधार नाम नारायण, जिवन प्राण-धन मोरे ॥

॥ 12 ॥

भक्ति ऐसी सुनहु रे भाई, आई भक्ति तब गई बड़ाई ॥ टेक ॥
कहा भयो नाचे अरु गाये, कहा भयो तप कीन्हे ।
कहा भयो जै चरन पखारे, जौ लौं परम तत्त नहिं चीन्हें ॥ 1 ॥
कहा भयो जे मुंड मुंडायो, वह तीरथ-व्रत कीन्हें ।
स्वामी-दास, भक्त अरु सेवक, जो परम सत्त नहिं चीन्हें ॥ 2 ॥
कहै 'रैदास' तेरी भक्ति दूरि है, भाग बड़े सो पावै ।
तज अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलकहूं चुनि खावै ॥ 3 ॥

॥ 13 ॥

नरहरि प्रगटिसि ना हो, प्रगटिसि ना हो, दीनानाथ दयाल ॥ टेक ॥
जनमत ही ते हौं बिगरान, हौं कछु बूझत बहुर सयान ॥ 1 ॥
परिवार विमुख मोहि लागै, कछु समुझि परति नहिं जागै ॥ 2 ॥
यहु भौ विदेश कलि-काला, हम आय पर्‍यो जम-जाला ॥ 3 ॥
कबहुंक तोर भरोस, जौ मैं न कहूं तो मोर दोष ॥ 4 ॥

अस कहियत हूं मैं अजान, अहो प्रभु तुम सर्वज्ञ समान ।। 5 ।।
सुत सेवक सदा अशोच, ठाकुर पितहि सब सोच ।। 6 ।।
'रैदास' बिनवै कर जोरि, अहो स्वामी तुम मांहि न खोर ।। 7 ।।
सुतौ पुरवला अकरम मोर, बलि जाऊं करौं निज़ कोर ।। 8 ।।

।। 14 ।।

न्यूं तुम कारन केशवे, लालच जिव लागा ।
निकट नाथ प्रापत नहीं, मन मंद अभागा ।। टेक ।।
सागर सलिल सरोदिका, जल थल अधिकाई ।
स्वांति बूंद की आस है, पिव प्यास न जाई ।। 1 ।।
जो रस नाहि चाहिए, चितवत हूं दूरी ।
पंगुल फलन पहुंचहि, कछु साध न पूरी ।। 2 ।।
कहै 'रैदास' अकथ कथा, उपनिषद सुनी जें ।
जस तूं तस तूं सत् तुहीं कस उपमा दीजें* ।। 3 ।।

।। 15 ।।*

तेरो जन काहे को बोलै, बोलि-बोलि अपनी भगति क्यों खोलै ।। टेक ।।

बोलत-बोलत बढ़ै बियाधी, बोल अबोलै जाई ।
बोले बोल, अबोल कूं पक्रै, बोलै बोल कूं खाई ।। 1 ।।
बोलै ज्ञान मान पर बोलै, बोलै वेद बड़ाई ।
उर में धरि-धरि जबहि बोलै, तब ही मूल गंवाई ।। 2 ।।
बोलि-बोलि औरहिं समझावै, तब लग समझि न भाई ।
बोल-बोल समझी जब बूझी, काल सहित सब खाई ।। 3 ।।
बोलै गुरु अरु बोलै चेला, बोलै, बोल के परतिति आई ।
कह रैदास थकित भयो जब, तबहिं परम-निधि पाई ।। 4 ।।

---

*ये नीचे की दो पंक्तियां 'गुरु ग्रंथ साहब' में अन्य पद के साथ दी गई हैं ।

॥ 16 ॥

ऐसी भगति न होई, रे भाई,
राम नाम बिन जो कुछ करिये, सो सब भरम कहाई ॥ टेक ॥
भक्ति न रस-दान, भक्ति न कथै ज्ञान, भक्ति न बन में गुफा खुदाई ।
भक्ति न ऐसी हांसी, भक्ति न आसा-पासी, भक्ति न कुल-कान गाई ॥
भक्ति न इन्द्री-बांधा, भक्ति न जोग-साधा ।
भक्ति न अहार घटाई, ये सब कर्म कहाई ॥
भक्ति न निद्रा साधै, भक्ति न बैराग बाधै ।
भक्ति नहीं सब वेद बड़ाई ॥
भक्ति न मुंड-मुंडाई, भक्ति न भाल दिखाई ।
भक्ति न चरन घुवाए, भक्ति न गुनी कहाए ॥
भवित न तौ लौं जानी, जौ लौं आप कूं आप बषानी ।
जोई-जोई करै, सौ कर्म बढ़ाई ॥
आयौ गयो, तो भक्ति पाई, ऐसी भक्ति है भाई ।
राम मिल्यौ आपौ गुण खोयो रिद्धि-सिद्धि सब गंवाई ॥
कहै 'रैदास' छूट आस सब, हरि ताही के पास ।
आत्मा अस्थिर भई, जबै तब सब ही निधि पाई ॥

॥ 17 ॥

है सब आत्म-सुख, स्वयं-प्रकाश सांचों, निरन्तर निराहार कल्पते पांचो ॥
आदि-अंति औसान एक रस, एक तार ही भाई ।
थावर जंगम कीट पतंगा, पूरि रह्यो हरि राई ॥
सर्वेश्वर सर्वांगी सबगति, कर्ता-हर्ता सोई ।
सिव, न असिव न साध अरु सेवक, उन भाव नहिं होई ।

धरम-अधरम मोक्ष नहिं बंधन, जरा-मरण भव-नासा ।।
दृष्टि अदृष्टि गेय अरु ज्ञाता, ऐकमेक कहै 'रैदासा' ।। *

।। 18 ।।

मरम कैसे पाईब रे :
मौसों कोऊ न कहै समुझाय, जातै मेरी आवागमन बिलाय ।। टेक ।।
बहु विधि धरम निरुपियै, कर्ता दीसे सब कोई ।
जिहिं धरमैं त छटिहै सो धरम न चीन्हें कोय ।। 1 ।।
करम-अकरम विदारिये, सुनि स्मृति-वेद-पुरान ।
संसा सदा हिरदै बसै, हरि बिन कौन हरै अभिमान ।। 2 ।।
बाहर उदक पखारिये, घट भीतर विविध बिकार ।
सुचि कौन विधि होइये, जैसे कुंजर-विधि-ब्यौहार ।। 3 ।।
सतजुग सत, त्रैता जगी, द्वापर पूजा—चार ।
तीनों जुग तीनों दृढ़ै, कलि केवल नांव—अधार ।। 4 ।।
रवि प्रकाश रजनी तथा, उगत दिसै संसार ।।
पारस मणि ताम्बो छिपा, कनक होत नहिं बार ।। 5 ।।
धन-जौबन हरि ना मिलै, दुःख दारुन अधिक अपार ।
एकै एक वियोगियां, ताकौ सब जानें संसार ।। 6 ।।
अनेक जतन कर टारिये, टारे न टरै जम—फांस ।
प्रेम-भक्ति नहीं ऊपजै, तातै, 'जन-रैदास' ।। 7 ।।

---

*यह पद 'पंचवानी' की प्रथम चार किताबों में दिया गया है,
किन्तु अंतिम चार में नहीं है ।

83- M(P/D)600MofI&B—9

॥ 19 ॥

अब हम खूब वतन-घर पाया, ऊंचा खेर सदा मन भाया ।
बेगमपुरा शहर का नाऊं, दुख अन्दोह नहीं ते ठाऊं ।।
ना तसवीस खिराज न माल, खौंफ न खाता न तरसजवाल ।।
काइम-दाइम सदा पातिशाही, दाम न साम एक सा आही ।
आबा दान सदा मशहूर, जहां गनियां बसै मामूर ।।
सैर करै ज्यों-ज्यों मन भावै, हरम महल मोहिं को अटकावै ?
कह 'रैदास' खलास चमारा, जो उस सहर सो मीतु हमारा ।।

॥ 20 ॥

रामहिं पूजा कहां चढ़ाऊं, फल अरु फूल न अनुपम पांऊं ।
दूधत बछ्रयो थनहु जुठार्यो, पहुप भंवर, जल मीन बिगार्यौ ।।
मलियागर बांधियों भुवंगा, विष अमृत बसई एक संगा ।
मनहिं पूजा मनहिं धूप, मनही से सेऊं सहज सरूप ।
पूजा अरचा न जानूं, तोरी, कह 'रदास' कौन गति मोरी । **

॥ 21 ॥

माधो । सत् संगति सरन तुम्हारी, हम औगुन, तुम उपकारी ।
तुम मखतूल गुलाब चतुर्भुज, मैं बपुरो जस कीरा ।।
पीवत डाल फूल फल अमृत, सहज भयी मति हीरा ।†

---

*केवल 'गुरु ग्रंथ साहब' में, यहां पर यह पंक्ति अधिक है ।
**निम्नलिखित पंक्तियां 'गुरु-ग्रंथ-साहब' में दिये गये पद में अधिक हैं ।
"धूप-दीप नइवेदहि बासा, कैसे पूज करहि तैरी दासा ।
तन मन अर्पो पूज चढ़ावउं, गुरु-परसादि निरन्जन पावऊं ।।"
†गुरु-ग्रंथ-साहब, में इस पंक्ति के स्थान पर निम्नलिखित पंक्ति दी गई है :
"संत संगति मिलि रहिए, माधव जैसे मधुर-मखीरा"

तुम चन्दन मैं रंड बापुरो, संग तुम्हारे बासा ।।
नीच वृत तै ऊंच भये हैं, गन्ध-सुगन्ध निवासा ।
जाति भी ओछी जनम भी ओछो, ओछा करम हमारा ।
हम सरनागति राम-राइ को, कहै 'रैदास' चमारा ।।

।। 22 ।।

देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ।। टेक ।।
अरे कलाली तैं क्या कीया, सिरका सा तैं प्याला दीया ।। 1 ।।
कहे कलाली प्याला देऊं, पीवन हारे का सिर लेऊं ।
सहज शून्य में भाटी सखै, पीवै रैदास, गुरुमुख दऊं ।। 2 ।।

।। 23 ।।

भाई रे सहज बंदो सोय, बिन सहज सिद्ध न होय ।
लौ लीन मन जब जानिये, जब कीट भृगीं होय ।। टेक ।।
आपा-पर चीन्हें, नहीं, और कूं उपदेश ।
कहां त तुम आयो रे, जाहुंगे किस देश ।।
कही-तो-कही, काहि कहियै, कहां कौन पतियाय ।।
रदास दास अजान ह्वै करि, रह्यो सहज-समाय ।।

।। 24 ।।

नागर जनां मरी जाति विख्यात चमारं, हृदय राम गोविन्द गुण-सारं ।
सुरसरि जल कृत वारुनि रे, संतजन नहीं करत पानं ।।
सुरा अपवित्र गंग जल आनिय, सुरसरि मिल होय न भानं ।
तत्कार अपवित्र कर मानिये, जैसे कागरा करत विचारं ।।

भगत भागवत लेखिये, तिहूं ऊपर, तब पूजिये करि नमस्कारं ।*
अनेक अधम जीव नाम गुन उधरे, पतित-पावन भये परसि सारं ।।
'भनै रैदास' ररंकार गुनवती, सन्त-साधु भये सहज पारं ।।

॥ 25 ॥

बापुरो सत् रैदास कहै रे ।
ज्ञान विचार चरन चित्त राखै, हरि की शरण रहै रे ।। टेक ।।
पाती तोड़े पूजि रचावै, तारन-तरन कहै रे ।
मूरत मांहि बसै परमेश्वर, तौ पानी मांहि तिरै रे ।।
त्रिविध संसार कौन विधि तिरबो, जे दिढ़ नांव गहै रे ।
नाव छांड़ वे डूंगे पैसे, दूना दुःख सहै रे ।।
गुरु को शब्द अरु सूति कुदाली, खोदत कोई लहै रे ।
राम कहहु तो बढ़ै न आपौ सोने कूल बहै रे ।।
झूठी माया, जग डहकाया, तीन ताप दहै रे ।
कहै 'रैदास' राम जप रसना, माया कैसे संग रहै रे ।।

॥ 26 ॥

यह अंदेश शोच जिय मेरे, निसि-बासर गुन गाऊं तेरे ।
तुम चिन्तित मेरी चिन्ता जाई, तुम चिन्ता-मणि होउ कि नाहीं ।।
भगत हेतु का का नहिं कीन्हा, हमरी बेर भये बलहीना ।
कह 'रैदास-दास' अपराधी, जही तुम द्रवो सो भगति न साधी ।।

---

*इन पंक्तियों के बाद 'गुरु ग्रंथ साहब' में निम्नलिखित पंक्तियां हैं :
"मेरी जाति कुटुबांढला ढोर ढोवंता, नितहि बानारसी आसपासा ।
अब विप्र परधान तेहि करहिं डंडौति, तेरे नाम सरणाई 'रविदास' दासा ।।"
यही दोनों पंक्तियां (थोड़े परिवर्तित रूप में) 'गुरु ग्रंथ साहिब' में
संकलित एक अन्य पद के अन्त में आई हैं ।

॥27॥

माधवे का कहिये यहु ऐसा, जनकी जानत हो है जैसी ।
मीन पकरि काट्यो अरु फाट्यौ, बांट कीयो बहु बानी ।
खंड-खंड करि भोजन कीन्हों, तऊ न बिसर्‌यो पानी ॥1॥
जउ हम बांधे मोह-फांस, हम प्रेम बंधनि तुम बांधे ।
अपने छूटन को जतन करहु, हम छूटैं तुम आराधे ॥2॥
कह रैदास भक्ति एक बाढ़ी, अब काको डर डरिये ।
जा डरकूं हम तुम सेवैं, सो दुःख अजहुं भरिये ॥3॥

॥28॥

रे चित चेत अचेत काहे न, बाल्मीकहि देखि रे ।
किसु जाति तें किह पदहिं अमर्‌यो राम भक्ति विशेष रे ॥
षटकर्म कुल सयुक्त है, हरि-भक्ति हिरदै नाहि रे ।
चरनारबिन्द न कथा भावै, सुमन तुल्यै ताहि रे ॥
स्वान शत्रु-सजाति ताते, अन्तर लावै हेत रे ।
लोग बपुरा क्या सराहै, तीन लोक प्रवेश रे ॥
अजामिल-गज-गणिका तारी, काटी कुंजर फांस रे ।
ऐसे दुरमति निस्तरे , तु क्यों न तिरैं रैदास रे ॥

॥ 29 ॥

रथ को चतुर चलावन हारो ।
खिन हांके खिन उभो राखै नहीं आंनको सारो ॥ टेक ॥
जब रथ थके, सारथि थाकै, तब को रथहिं चलावै ।
नाद-विंद ये सब ही थाके, मन-मंगल नहीं गावै ॥ 1 ॥
पांच तत्व को यहु रथ साज्यो, अर्धे उर्ध्व निवासा ।
चरन-कमल लौलाय रह्यो है, गुण गावै 'रैदासा' ॥ 2 ॥

॥ 30 ॥

माधवे । तुम तोरो, मैं नहिं तोरुं, तुम सों तोरि कवन से जोरूं ॥ टेक॥ 1

तीरत-ब्रत न करूं अंदेसा, तुम्हारे चरण-कंवल का भरोसा ॥ 1 ॥

जहां-जहां जाऊं तुम्हारी पूजा, तुमसे देव और नहिं दूजा ॥ 2 ॥

सांची प्रीत हम तुम सन जोरी, तुम सन जोरि अवर सूं तोरी ॥ 3 ॥

सब पर हरि तुम्हारी ही आसा, मन-क्रम-बचन कहैं 'रैदासा' ॥ 4 ॥*

॥ 31 ॥

माधवे का कहियत भ्रम ऐसा, जैसा मानिय होय न तैसा ॥ टेक ॥

नरपति एक सेज[2] सुख सूया, सुपनै भयो भिखारी ।

अछत-राज, बिछरत दुःख पायो, सो मति भई हमारी ॥ 1 ॥

जब हम होते तब तुम नाहीं, जब तुम हो, हम नाहीं ।

सलिल गवन कियो लहर महोदधि, जल केवल जल मांही ॥ 2 ॥

रज-भुवंग रजनी-परकाशा, अस कछु मर्म जनावा ।

कनक-अलंकृत भूलि परै जस, कहते कहन न आवा ॥ 3 ॥

करता एक अनेकै स्वामी, सब घट सब विधि सांई ।

कहु 'रैदास' भक्ति एक उपजी, सहजै होय सहाई ॥ 4 ॥

---

*1. इस पद की दो पंक्तियां 'गुरु-ग्रंथ-साहब' में इस पद के साथ नहीं हैं, किन्तु नीचे लिखी पंक्तियां अधिक हैं :

(1) जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा, जउ तुम चंद तो हम भये चकोरा ।

(2) जउ तुम दियरा तउ हम बाती, जउ तुम तीरथ तउ हम जाती ।

(3) तुम्हरे भजन कटहि जम-फांसा, भगति हेतु गावै 'रैदासा' ।

2. 'गुरु-ग्रंथ-साहब' में 'सिंघासन' दिया है । दोनों ही ठीक हो सकते हैं ।

॥ 32 ॥

मन मेरो सत्य सरूप विचारं ।
आदि अंत अनंत परम पद, संसा सकल निवारं ॥ टेक ॥
जस हरि कहिये तस हरि नाहीं, है हरि बस कछु ऐसा ।
जानत-जानत जान रह्यौ सब, धर्म कहा निज जैसा ॥ 1 ॥
कहत आन, अनुभवत् आन, रस मिलै न बेगर होई ।
बाहर-भीतर, प्रगट-गुप्त, घट-घट रमत और न कोई ॥ 2 ॥
आदिहु एक अन्त पुनि सोई, मध्य उपाधि जु कैसे ?
है ये एक, पै भ्रम सूं दूजो, कनक-अलंकृत जैसे ॥ 3 ॥
कह 'रैदास' प्रकास परमपद, का जप-तप विधि पूजा ।
एक अनैक, अनैक एक हरि, कहों कौन विधि दूजा ॥ 4 ॥

॥ 33 ॥

ऐसा ध्यान धरौं बनवारी, मन-पवन दृढ़ सुषमन नारी ।
सौ जप जपूं जो बहुरि न जपना, सो तप तपूं जो बहुरि न तपना ॥ 1 ॥
सो गुरु करूं जो बहुरि न करना, ऐसो मरूं जो बहुरि न मरना ॥ 2 ॥
उलटी गंग जमन में लाऊं, बिनही जल मज्जन ह्वै पाऊं ॥ 3 ॥
लोचन भरि-भरि बिम्ब निहारौं, जोति बिचारि न और बिचारौं ॥ 4 ॥
पिंड परै जिव जस घर जाता, शब्द अतीत अनाहद् राता ॥ 5 ॥
जाँ कृपासोइ भल जानै, गूंगों-सा गुर कहा बखानै ॥ 6 ॥
सन्त-मंडल मैं मेरा बास, तातें जीव में रहूं उदास ॥ 7 ॥
कह 'रैदास' निरंजन ध्याऊं, जिस घर जाय बहुरि न आऊं ॥ 8 ॥

॥ 34 ॥

अविगत नाथ निरंजन देवा, मैं क्या जानूं तुम्हारी सेवा ॥ टेक ॥
बाधूं न बंधन छाऊं न छाया, तुम्हें सेऊं निरंजन राया ॥ 1 ॥
चरन पताल सीस असमाना , सो ठाकुर कस संपुट-समाना ॥ 2 ॥
शिव-सनकादिक अंत न पाया, ब्रह्मा खोजत जनम गंवाया ॥ 3 ॥
तोड़ूं न पाती पूजं न देवा, सहज समाधि करूं हरि सेवा ॥ 4 ॥
नख परस्वेद जाक सुरसरि धारा, रोमावली अट्ठारह भारा ॥ 5 ॥
चार वेद जाक सुमिरत सांसा, भक्ति हेतु गावै 'रदासा' ॥ 6 ॥

॥ 35 ॥

खालिक सिकस्ता मैं तेरा, दे दीदार, उमेदगार-बेकरार जिउ मेरा ॥ टेक ॥
औवल आखिर इल्लिाह आदम, मौज़ फरिस्ता बन्दा ।
जिसकी पनाह पीर पैगम्बर, क्या गरीब क्या गंदा ॥
तू हाजरा हजूर जोग एक, और नहीं है दूजा ।
जिसके इश्क आसरा नाहीं, क्या निवाज, क्या पूजा ॥
नाली दोज हनोज़ बेबखत, किमि खिदमतगार तुम्हारा ।
दर मादा, दर ज्वाब न पावै, कहे 'रैदास' विचारा ॥ 3 ॥

॥ 36 ॥

मैं बेदीन , का सनि आखूं, हरि बिन जीवन कैसे राखूं ॥ टेक ॥
जीव तरसै ईक गंग बसेरो, करहु संभालन सुरमुनि मरो ।
विरह तपै तन अधिक जरावै, नींद न आवै भोज न भावै ।
सखी सहेली गरब गहली, पिव की बातन् सुनहु सहली ।
मैं रे दहागिन अधकर जानी, गया सुजोबन साध न मानी ॥

मैं दानां साईं साहिब मेरा, खितमतगार बंदा मैं तेरा ।
कहै 'रेदास' अंदेशा येही, बिन दरसन क्यों जीवे सनेही ।।

।। 37 ।।

पावन जस माधो तेरा, तू दारुन अधमोचन मेरा ।। टेक ।।
कीरति तेरी पाप बिनास, लोक वेद यूं गावै ।
जो हम पाप करै नहिं भूधर, तो तू कहा नसावै ।। 1 ।।
जब लग अंग पंक नहिं परसै, तौ जल कहा पखारै ।
मन मलीन विषयारस लम्पट, तो हरि नांव सम्भारै ।। 2 ।।
जो हम विमल हृदय चित-अंतर, दोष कवन परि धरिहौ ।
कह 'रैदास' प्रभु तुम दयाल हो, बंध-मुक्ति कब करिहौ ।। 3 ।।

।। 38 ।।

ऐस जानि जपौ रे जीव, जपि ल्यो राम न भरमौ जीव ।। टेक ।।
गनिका थी किस करमा जोग, पर पुरुषन सूं रमती भोग ।। 1 ।।
निस वासर दुस्करम कमाय, राम कहत बैकुन्ठै जाय ।। 2 ।।
नाम देव केहि जाति के ओछ, जाको जस गावय तीन लोक ।। 3 ।।
भगति हेत भगतां कौ मिलै, अंकमाल लै बीटल मिले ।। 4 ।।
कोटि जग्य जै कोई करै, राम नाम सम तऊ न निस्तर ।। 5 ।।
निरगुन को गुन देखौ आई, देह सहित कबीर सिधाई ।। 6 ।।
मोरि कुचलि जाति में बास, भगति हेत हरिचरन-निवास ।। 7 ।।
चारि वेद कीया सन्डौति, 'जन-रदास' करै डंडौत ।। 8 ।।

॥ 39 ॥

जग में वेद वैद मानी जै ॥
इनमें और, अगथ कछु औरे, कहा कौन पर कीजै ॥ टेक ॥
भौजल-व्याधि असाधि प्रबल-अति, परम पन्थ न गहीजै ॥ 1 ॥
पढ़ै-गुनै कछु समझ न परहीं, अनुभौ पद न लहीजै ॥ 2 ॥
चख-विहीन करतारि चलत हैं, नितहि अंश भुज दीजै ॥ 3 ॥
कहैं 'रैदास' विवेक-तत्व बिन, सब मिलि नरक परीजैं ॥ 4 ॥

॥ 40 ॥

हरि टांडो लाद्यां जाइरे ।
हों बनजारौ राम को, सहज करौं व्यापार ॥ टेक ॥
औघट घाट घनो घन रे, निर्गुन बैल हमार ।
राम नाम धन लादियौ, तैं विष लाद्यो संसार ॥ 1 ॥
अन्तहि धन धर्यौ, अन्तेहि ढूंढ़न जाइरे ।*
अनत धर्यो न पाइये, तात चल्यो मूल गंवाइरे ॥ 2 ॥*
रैन गंवाई सोइ कै, दिवस गंवायो खाई रे ।*
हीरा यहु तन पाइ कै, कौड़ी बदले जाइ रे ॥ 3 ॥*
साधु संगति पूंजी भई रे, वस्तु लई निरमोल रे । *
सहज बरधवा लाद कर, चहुं दिस टांडो डोल रे ॥ 4 ॥*
जैसा रंग कसूंब का, तैसा यह संसार रे ।
रमइया रंग मंजीठ का, कह 'रैदास-चमार' रे ॥ 5 ॥

---

ये पंक्तियां 'गुरु-ग्रंथ-साहब' में दिये गये पद में नहीं हैं । 'ग्रंथ-साहब' में, निम्न पंक्तियां और हैं, जो 'रैदास बानी' अथवा 'पंचवानी' में नहीं हैं :

1. "उखार पार के दानिया, लिखि लेहु आल पताल ।
   मोहि यम-डंड न लागई, तजि ले सर्व जंजाल ।"
2. "रमय्ये स्यो इक बिनती मोरी पूंजी राखु मुरारि ।"

॥ 41 ॥

प्रीति सुधारन आव ।
तेज सरूपी सकल सिरोमणि, सकल निरंजन राव ॥ टेक ॥
पीव संग प्रेम कबहूं नहिं पायो, करनी कबन बिसारी ।
चक को ध्यान दधिसुत सूं ज्यों है, त्यों तुमते मैं न्यारी ॥ 1 ॥
भोर भयो मौहिं एक टक जोवत, तलफत रजनी जाई ।
पीव बिना सेज को का सुख, विरह् व्यथा तन खाई ॥ 2 ॥
मेटि दुहाग सुहागिन कीजै, अपने अंग लगाई ॥ 3 ॥
कहै 'रैदास' स्वामी तैं बिछुरे, एक पलक जुग जाई ॥ 4 ॥

॥ 42 ॥

मेरी प्रीति गोपाल सूं जनि घटै हो, मैं मोल महिंगे लई, जिय संटै हो ।
हृदय सुमिरन करूं, नैन अवलोकना, श्रवणों हरि कथा पूरि राखूं ॥ 1 ॥
मन मधुकर करूं, चरनन चित धरूं, राम-रसायन रसना चाखूं ॥ 2 ॥
साधु-संगति बिन, भाव नहिं ऊपजै, भाव बिन भक्ति नहिं होय तेरी ॥ 3 ॥
बंदत 'रैदास' सुन रघुनाथ बीनती, गुरु-प्रसाद कर कृपा करो न देरी ॥ 4 ॥

॥ 43 ॥

नाम तेरो आरती, भजन मुरारे, हरि के नाम बिन झूठे सकल पसारे ॥ 1 ॥
नाम तेरो आसन, नाम तेरो हुरसा, नाम तेरो केसर, लै छिड़का रे ।
नाम तेरो अमुला, नाम तेरो चन्दन, चन्दन घसि जपै, नाम उचारे ॥
नाम तेरो दीया, नाम तेरो बाती, नाम तेरो तेल ले मांहि पसारे ॥
नाम तेरे की जोति जगाई, भयो उजियारे भवन सगला रे ।
नाम तेरो धागा, नाम फूल-माला, भार हठारहु सकल जुहारे ॥
तेरो किओ तुझ ही को अरपूं, नाम ही सूं तु चंवर डुलारे ॥
कहै 'रविदास' नाम तेरो आरति, अंतरगति हरि भोग लगा रे ।

॥ 44 ॥

जो तुम गोपालहिं न गइहौ ।
तो तुम का सुख में दुःख उपजै, सुखहिं कहां ते पइहौ ॥ टेक ॥

भूल्यो नाथ, सकल गज डहको, झूंठो भेष बनाइहौ ।
झूठे ते सांचि तबैहू वै पइहौ, हरि की सरनि जब अइहौ ॥ 1 ॥

कनरस-बतरस और सबै रस झूंठहिं मूड़ डोलइहौ ।
जब लग तेल, दिया में बाती फिर पाछे बुझि जइहौ ॥ 2 ॥

जब तुम राम नाम रंगराते और रंग न सुहैहौ ।
कह 'रैदास' भजो रे कृपानिधि, प्रान गये पछितैहौ ॥ 3 ॥

॥ 45 ॥

अब कैसे छूट राम नाम रट लागी ।

प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी,
जाकी अंग-अंग बास समानी ॥ 1 ॥

प्रभु जी तुम घन, बन हम मोरा,
जैसे चितवन चन्द चकोरा ॥ 2 ॥

प्रभु जी तुम दीपक हम बाती,
जाकी जोति बरै दिन राती ॥ 3 ॥

प्रभु जी तुम मोती हम धागा,
जैसे सौनहिं मिलत सोहागा ॥ 4 ॥

प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा ।
ऐसी भक्ति करै 'रैदासा' ॥ 5 ॥

॥ 46 ॥

प्रभु जी संगति शरन तुम्हारी
जग-जीवन राम मुरारी ॥ टेक ॥
गली-गली को जल बहि आयो, सुरसरि जाय समायो ।
संगत कै परताप महातम, नाम गंगोदक पायो ॥ 1 ॥
स्वाती बूंद बरसै फणि ऊपर, सीस विषै होय जाई ।
वही बूंद कै मोती उपज, संगति की अधिकाई ॥ 2 ॥
तुम चन्दन हम रेंड बापुरे, निकट तुम्हारे आशा ।
संगत के परताप महातम, आवै बास-सुबासा ॥ 3 ॥
जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा ।
नीचे से प्रभु ऊंच कियो है, कह 'रविदास' चमारा ॥ 4 ॥

॥ 47 ॥

हरि जपत तेऊ जनां पदम कवलासपति ता सम तुलि नहिं आन कोऊ ।
एकहि एक अनेक व्है विस्थर्यो आवरे आन भरि पूरि सोऊ ॥ टेक ॥
जाके भागवतु लेखिये, सत् कर्महि पेखिये, तास की जाति आछोपछीपा ।
व्यास मांहि लेखिए, सत् कर्महि पेखिये, नाम की नामना सपत दीपा ॥
जाके ईद बकरीद कुल गऊ रे बध करहि मानी अहि शेख सहीद-पीरा ।
जाके बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहुरे लोक परिसिध कबीरा ॥
जाके कुटुम्ब के ढेढ सभ ढोर ढोवंत फिरहिं अजहु बन्नारसी आसपासा ॥
आचार सहित विप्र करहिं डंडवत तिनि तनै 'रविदास' दासानुदासा ॥

---

बोध : (क) 'पंचवानी' में पद संख्या 44, 45, व 46 नहीं हैं । 'गरु-ग्रंथ-साहब' में पद 45 आया है किन्तु सम्पूर्ण नहीं है उसमें इसका कुछ अंश तथा 'रैदास-बानी' के पद संख्या 33 का कुछ अंश एक साथ एक पद म आया है । दोनों में पाठांतर व पंक्तियों में कुछ परिवर्तित क्रम भी है ।

(ख) 'रैदासबानी' में पद 21 तथा 46 लगभग समान हैं, केवल थोड़ा अंतर है ।

॥ 48 ॥

हम सरि दीन, दयालु न तुम सरि, अब पतियाय कहा कीजैं ।
बचनी तोर-मोर मन मानै जन कौ पूरन दीजै ॥ 1 ॥
हौं बलि-बलि जाऊं रमैय्या कारने, और कौन अबोल ॥ टेक ॥
बहुत जनम बिछुरे थे माधव , इह जनम तुम्हारे लेखे ।
कहि 'रविदास' आस लगि जीवौं, चिर भयो दर्शन देखें ॥ 2 ॥

॥ 49 ॥

माटी का पुतरा कैसे नाचतु है ?
देखै, सुनै, बोलै, दौरयो फिरतु है ॥ टेक ॥
जब कछु पावै तो गर्व करतु है ।
माया गई तो रोवन लगतु है ॥ 1 ॥
मन, बच, कर्म रस कसहिं लुभाना ।
बिनसि कया जाय कहूं सयाना ॥ 2 ॥
कहीं 'रविदास' बाजी जगु भाई ।
बाजीगर सों मोहिं प्रीत बनि आई ॥ 4 ॥

॥ 50 ॥

ऊंचे मंदिर शाल रसोई, एक धरी पुनि रहन न होई ॥ 1 ॥
यहु तन ऐसा जैसे घास की टाटी, जल गयो घास , रलि गई माटी ॥ टेक ॥
भाई-बन्धु-कुटुम्ब-सहेरा, ओइ भी लागे काढु सवेरा ॥ 2 ॥
घर की नारी उरहितिन लागी, वह तो भूत-भूत करि भागी ॥
कहि 'रविदास' सबै जग लूट्यो, हम तो एक राम कहि छूट्यो ॥ 4 ॥

॥ 51 ॥

दारिद देखि सब कोइ हंसे , ऐसी दशा हमारी ।
अष्टादस सिद्धि कर तले, सब कृपा तुम्हारी । 1 ॥
तू जानत मैं कछु नहीं, भव-खण्डन है राम ।
सकल जीव शरनागती, प्रभु से पूरन काम ॥ टेक ॥
जो तेरी शरणागता, तिन नाही कछु भार ।
ऊंच-नीच तुम ते तरै, आलज है संसार ॥ 2 ॥
कह 'रविदास' अकथ कथा बहु काह कही जै ।
जैसा तू तैसा तूही क्या उपमा दीजै : ॥ 3 ॥*

॥ 52 ॥

संत तुझी तन संगति प्रान, सत् गुरु ज्ञान जानै संत देवादेव ॥ 1 ॥
संत ही संगति , संत कथा-रस, संत-प्रेम मोहि दीजै देवादेव ॥ टेक॥
संत आचरण, संत सौ मारग, संत हीं सो लागै लगनि ॥ 2 ॥
और इक भाव -भगति चितामणि, जनि लागै असंत पापी सनि ॥ 3 ॥
'रविदास' भनै जो जानै सो जान, संत अनंतहि अंतर नाहि ॥ 4 ॥

॥ 53 ॥

हरि हरि हरि हरि हरि हरे ;
हरि सुमिरत जन निस्तरे ॥ टेक ॥
हरि के नाम कबीर उजागर ।
जनम-जनम के काटे कागर ॥ 1 ॥
नमत नामदेव दूध पिआया ।
तौ जग-जन्म संकट नहि आया ॥ 2 ॥
'जन-रविदास' राम रंग राता ।
गुरु प्रसादि नरक नहि जाता ॥ 3 ॥

---

*इस पद की अंन्तिम दो पंक्तियां पद संख्या 14 की अंतिम पंक्तियों से काफी मिलती-जुलती हैं ।

॥ 54 ॥

सुख सागरु सुरतर चिंतामनि कामधेनु बसि जाक ॥
चारि पदारथ असट दसा सिधि नव निधि करतल ताक ॥ 1 ॥
हरि-हरि-हरि न जपहि रसना ॥
अवर सभ तिआगी बचन रचना ॥ 1 ॥ रहाउ ॥
नान खिआन पुरान वेद विधि चउतीस अखर मांही ॥
बिआस बिचारि कहिओ परमारथु राम नाम सरि नाही ॥ 2 ॥
सहज समाधि उपाधि रहत फुनि बड़े भागि लिव लागी ॥
कहि रविदास प्रगासु रिदै धरि जनम-मरन भै भागी ॥ 3 ॥ 4 ॥

॥ 55 ॥

जल की भीति पवन का थंभा रकत बूंद का गारा ॥
हाड-मास-नाड़ी को पिंजरु पंखी बसै बिचारा ॥ 1 ॥
प्रानी किआ मेरा किआ तेरा ॥ जैसे तरवर पंखि बसेरा ॥ 1 ॥ रहाउ ॥
राखहु कंध उसारहु नीवां ॥ साढ़ै तीनि हाथ तेरी सीवां ॥ 2॥
बंके बाल पाग सिर डेरी ॥ इहु तनु होइगो भसम की ढेरी ॥ 3 ॥
ऊंचे मंदर सुन्दर नारी ॥ राम नाम बिनु बाजी हारी ॥ 4 ॥
मोरी जाति कमीनी पांति कमीनी ओच्छा जनमु हमारा ॥
तुम सरनागति राजा राम चन्द कहि रविदास चमारा ॥ 5 ॥ 6 ॥

॥ 56 ॥

चमरटा गांठि न जनई ॥ लोगु गटावै पनही ॥ 1 ॥ रहाउ ॥
आर नहीं जिह् तोपउ ॥ नहीं रांबी ठाउ रोपउ ॥ 1 ॥
लोग गंठि-गंठि खरा बिगूचा ॥ हउ बिनु गांठे जाइ पहूचा ॥ 2 ॥
रविदास जपै राम नामा ॥ मोहि जम सिउ नाही कामा ॥ 3 ॥ 7 ॥

॥ 57 ॥

चित सिमरनु करउ नैन अविलोकनो
स्रवन बानी सुजसु पूरि राखउ ॥
मनु सु मधुकरु करउ चरन हिरदे धरउ
रसन अंमृत राम नाम भाखउ ॥ 1 ॥
मेरी प्रीति गोबिन्दु सिउ निजी घठै ॥
मैं तउ मोलि मंहगी लई जीअ सटै ॥ 1 ॥ रहाउ ॥
साघ संगति बिना भाउ नहीं ऊपजै
भाव बिनु भगति नहीं होई तेरी ॥
कहै रविदास इक बेनती हरि सिउ
पैज राखउ राजा राम मेरी ॥ 2 ॥ 2 ॥

॥ 58 ॥

जिह् कुल साधु बैसनो होई ॥
बरन-अवरन रंकु नहीं ईसरू ॥
बिमल जासु जानीए जगि सोई ॥ 1 ॥ रहाउ ॥
ब्रह्मन-वैस-सूद अरु ख्यत्री ॥ डोम-चंडार-मलैछ मन सोइ ॥

होई पुनीत भगवंत भजन ते आपु तारि तारै कुल दोइ ।। 1 ।।

धंनि सु गाउ धनि सो ठाउ, धनि पुनीत कुटंब सभ लोइ ।।

जिनि पीआ सार रस तजे आन रस होई रस मगन डारे बिखु खोई ।। 2 ।।

पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउरु न कोइ ।।

जैसे पुरैन पात रहै जल समीप भनि रविदास जनमे जगि जोई ।। 3 ।।

।। साखी ।।

हरि-सा हीरा छांड़ि कर, करै आन की आस ।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत् भाषै रैदास ।। 1 ।।
अन्तर गति रांचै नहीं, बाहर करै उजास ।
तै नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ।। 2 ।।
रैदास कहै ज के हृदय, रहै रैन दिन राम ।
सो भगता भगवंत सम, क्रोध न व्यापै काम ।। 3 ।।
जो देख्या घिन ऊपजै, नरक-कुंड में बास ।
प्रेम भक्ति सूं ऊधर प्रगटत जन-रैदास ।। 4 ।।
'रैदास' तू कावंच-फली, तुझे न छीपै कोय ।
तैं निज नांव न जानियां, भला कहां ते होय ।। 5 ।।
'रैदास' रात न सोइये, दिवस न करिये स्वाद ।
अह-निस हरिजी सुमिरिये, छांड़ि सकल प्रतिवाद ।। 6 ।।

परिशिष्ट-2

# संत रविदास पर प्रकाशित पुस्तकें

(1) आदि-ग्रन्थ में उपलब्ध रैदास की वाणी, (2) रैदास की वाणी, बलबेडियर प्रेस, (3) संत रैदास और उनका काव्य (सम्पादक : रामानन्द शास्त्री तथा वीरेन्द्र पांडेय), (4) संत-सुधासार (सम्पादक : वियोगी हरि), (5) संत-काव्य (परशुराम चतुर्वेदी), (6) संत रैदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (श्री संगम लाल पांडेय), (7) संत रैदास (डा० जोगिन्द्र सिंह), (8) रैदास दर्शन (सम्पादक : आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद), (9) संत रविदास (श्री रत्नचन्द), (10) संत रविदास विचारक और कवि (डा० पदम गुरुचरण सिंह), और (11) संत गुरु रविदास-वाणी (डा० बेणीप्रसाद शर्मा)।

1. आदि-ग्रन्थ—आदि-ग्रन्थ साहिब को पांचवें गुरु अर्जुनदेव ने 1604 में सम्पादित किया था। इसमें उस समय जो रैदास के 40 पद और एक दोहा 16 रागों में संग्रहीत हैं, वे उसी रूप में आज तक उपलब्ध हैं। इसे रविदास वाणी का प्राचीनतम प्रामाणिक संग्रह माना जा सकता है। इन पदों में उनकी निर्गुण विचारधारा है।

2. बैलबेडियर प्रेस (इलाहबाद) से प्रकाशित रैदासजी की वाणी में 84 पद और 6 साखियां मिलती हैं। इन पदों की भाषा आदि-ग्रन्थ में उपलब्ध वाणी की अपेक्षा परवर्ती हैं तथा कुछ पदों में फारसी की पर्याप्त शब्दावली के दर्शन होते हैं।

3. 'संत रैदास और उनका काव्य'—रामानन्द शास्त्री द्वारा संवत् 2012 में सम्पादित इस संग्रह में भी उनके विस्तृत जीवन-चरित्र तथा वाणी के आलोचनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त उनकी बहुत-सी बाणी को संग्रहीत करने का अच्छा प्रयत्न किया गया है।

4. वियोगी हरि जी ने 'संत-सुधासार' में अन्यान्य संतों की वाणी के साथ रैदासजी को भी उच्च कोटि का संत मानते हुए इनके 20 पद तथा 5 साखियों को अपने संग्रह में स्थान दिया है।

5. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने बड़े श्रम से संतों की वाणी का उपयुक्त चुनाव करके प्रामाणिक संग्रह प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। इसमें उनके जीवन तथा काव्यगत गरिमा का संक्षिप्त परिचय दिया है।

6. श्री संगम लाल पांडेय ने अपनी कृति में 107 पद तथा 7 साखियों न संकलन किया है। पाद-टिप्पणी देकर उन्होंने कठिन शब्दों एवं उनके सिद्धान्तों समझने में भी सहायता दी है।

7. डा० जोगिन्दर सिंह ने अपनी कृति के अन्त में 112 पद, 8 साखियां तथा प्रह्लाद-चरित्र नामक रचना दी है। पाद-टिप्पणियों में अन्यान्य पद-भेदों को देकर उन्होंने इसे अधिक प्रमाणिक बनाने का प्रयत्न किया है। जीवन-परिचय, विचारधारा तथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन अच्छा किया गया है।

8. आचार्य आजाद जी ने अन्यान्य सहयोगियों की सहायता से रविदास दर्शन में 37 उप-शीर्षकों के अन्तर्गत 198 साखियां प्रस्तुत की हैं। इसके लिए उन्होंने अन्यान्य उपलब्ध हस्तलिखित-कृतियों का आश्रय लिया है। मौखिक परम्परा में आगत सम्प्रदाय में उपलब्ध वाणी का भी उन्होंने उपयोग किया है।

9. श्री रत्नचन्दजी ने रैदास की जीवनी तथा सिद्धान्तों का सामान्य परिचय देने के बाद उनके 52 पद तथा 3 साखियां उनके संग्रह में प्रस्तुत की हैं। इन पदों में उनका दैन्य-भाव, विनय-भाव, आत्म-निवेदन, आत्मानुभूति आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

10. डा० बेणी प्रसाद शर्मा ने आठ-दस वर्षों के अथक प्रयत्न से रैदास के उपलब्ध प्रायः सभी महत्वपूर्ण हस्तलेखों का निरीक्षण करके अधिकाधिक पदों को संग्रहीत करके प्रमाणित रूप से सम्पादित करने का प्रयास किया है। इसमें 177 पद तथा 49 साखियां हैं। रैदास-दर्शन में सम्पादित 193 साखियों को यहां नहीं दिया गया। 39 साखियों में रैदास-कबीर गोष्ठी भी दी गई है तथा 18 पदों में प्रह्लाद चरित्र भी। बीकानेर के अन्यान्य संग्रहों में उपलब्ध रैदास की वाणी का उपयोग किया है। जोधपुर के भी 4 शोध-संस्थानों में उपलब्ध रैदास की वाणी का परीक्षण करके उनमें से भी उपयुक्त वाणी को लिया है। इसी प्रकार जयपुर से लगभग 23 हस्तलिखित कृतियों में से रैदास की वाणी संग्रहीत की गई है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध हस्तलेखों से रैदास-वाणी का संग्रह भी किया गया है। डा० भगवत मिश्र ने 1954 में संत कवि रैदास और उनमें पंथ पर लखनऊ विश्व-विद्यालय से पी० एच० डी० की है। दूसरी प्रादेशिक भाषाओं में विशेषकर पंजाबी में भी संत रविदास पर कुछ पुस्तकें और शोध-ग्रन्थ लिखे गये हैं।*

*रैदास (धर्मपाल मैनी) से साभार (उद्धृत)।